37 ॥ श्रीः ॥

आधिदैविकाध्यायः



समीक्षाचक्रवर्तिनः—

स्व० पं० श्रीमधुसूदनशर्ममैथिलाः

॥ श्रीः ॥

समीक्षाचक्रवर्ति–विद्यावाचस्पति–महामहोपदेशक–
विद्वद्वर्य–स्व० पं० श्रीमधुसूदन–ओझा
विरचितः ।

* आधिदैविकाध्यायः *

सोऽयम्
श्रीसुरजनदासस्वामिना एम० ए०
साहित्य–व्याकरण–वेदान्त–सांख्ययोगाचार्येण सम्पादितः ।

ग्रन्थकर्तृसूनुना पं० श्रीप्रद्युम्नशर्म्मणा प्रकाशितः ।

प्रथमाऽऽवृत्तिः } वि० सं० २००७ } मूल्यम् ~~१॥)~~ २=



समीक्षाचक्रवर्ती

स्वर्गीय पं. मधुसूदनजी ओझा विद्यावाचस्पति ।

"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस-बम्बई.

॥ श्रीः ॥

* निवेदन *



इस आधिदैविकाध्याय ग्रन्थ के प्रकाशन कार्य को प्रारम्भ करने के कुछ ही दिन बाद मैं अस्वस्थ होगया जिससे इसका संशोधन भली प्रकार न हो सका । यहां के प्रेसों के विषय में पहिले भी मैं अन्य ग्रन्थों की भूमिका में लिख चुका हूँ कि वे इस ओर विशेष ध्यान नहीं देते हैं ।

मेरा स्वास्थ्य जब अधिक बिगडने लगा तब मैंने यह कार्य भार स्वामी सुरजनदासजी को सौंपा, यदि प्रारम्भ से ही उनके हाथ में दिया जाता तो इतनी गड़-बड़ या विलम्ब भी नहीं होने पाता, परन्तु यह क्या मालूम था कि मेरा स्वास्थ्य इतना खराब हो जायगा । अस्तु अब जैसा कुछ हो सका वह पाठकों के समक्ष रखा गया है । एक शुद्धि पत्र भी लगा दिया गया है तथापि पाठकवृन्द जो त्रुटि देखें उसे ठीक करने की उदारता करें ।

उक्त स्वामीजी का मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ कि उन ने अपना अमूल्य समय देकर मेरे इस कार्य में हाथ बटाया है । यह मेरे पूज्य पिताजी के शिष्य तो हैंही मुझ पर भी इनकी अनुपम कृपा रहती चली आती है ।

मेरा स्वास्थ्य क्रमशः ठीक होरहा है परन्तु अभी तक मैं इस सेवा के योग्य हुआ नहीं हूँ अतः जब तक मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं होता है यह कार्य मैंने स्वामीजी के ही निरीक्षण में रक्खा है । मुझे यह पूर्ण आशा है कि इनकी देख-रेख में विशेष त्रुटियां नहीं रहने पायेंगी ।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका में स्वामीजी ने सरल हिन्दी भाषा में इस ग्रन्थ के विषयों को अनुवाद रूप में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है जिससे सर्वसाधारण को समझने में भी कठिनता न होगी । आपने इस कार्य में बड़ा परिश्रम कर इस ग्रन्थ को बड़ा उपयोगी बना दिया है ।

पूज्य पिताजी ने शास्त्रों के उन विषयों का जिनका कि रहस्य क्रमशः लुप्तप्राय होगया है और जिनका आधुनिक व्यक्ति प्राचीन समय की परिभाषाओं व शैली को न जानने के कारण आधुनिक तरीके को अपना कर अन्यथा व्याख्यान करते हैं, अतः यथार्थ विषय को न जान कर उन्हें असम्भव व सन्देहास्पद मान बैठते हैं , उनका वास्तविक रहस्य बतलाने का पूर्ण प्रयत्न किया है । जितने भी ग्रन्थ लिखे गये हैं वे सब संस्कृत में हैं । अतः उनका जब तक हिन्दी भाषा में अनुवाद न कर दिया जाय तब तक वे संस्कृत के विद्वानों के अतिरिक्त सर्व

साधारण के उपयोगी नहीं हो सकते । परन्तु ग्रन्थ अत्यधिक हैं और वे सभी बड़े उपयोगी हैं अतः सर्व प्रथम उनका प्रकाशित करना ही परमावश्यक है । इनके प्रकाशन के लिये कोई ठोस सहायता भी उपलब्ध नहीं है फिर यदि हम हिन्दी भाषा के अनुवाद में अग्रसर होते हैं तो मूल ग्रन्थों के प्रकाशन में अत्यधिक शिथिलता आजाती है । अतः हिन्दीभावानुवाद को छोड़कर इन ग्रन्थों का प्रकाशन ही हमारा मुख्य ध्येय है । इनका प्रकाशन होजाने पर जो विद्यानुरागी महानुभाव चाहेंगे वे उनका अनुवाद करवा सकेंगे ।

फिर भी हम जो ग्रन्थ प्रकाशित होते हैं उनकी भूमिका में थोड़ा बहुत हिन्दीभाषा में ग्रन्थ की उपयोगिता आदि के विषय में लिख देते हैं जिससे पाठकों को उस ग्रन्थ के विषय का सामान्य ज्ञान तो हो जावे ।

इस प्रस्तुत ग्रन्थ में पुराणादि ग्रन्थों में वर्णित हजारों वर्षों की आयु के रहस्य का भी रहस्योद्घाटन किया गया है । और भी विषय इसमें ऐसे हैं जो अपनी विशेषता रखते हैं उनका दिग्दर्शन भी हिन्दी भाषा से भूमिका में स्वामीजी ने करा दिया है ।

आशा है इससे विद्याप्रेमी महानुभावों को समझने में सुविधा होगी और यह भी अनुमान होगा कि इसी प्रकार अन्य ग्रंथों में भी विविध विषयों की ग्रन्थियों को सुलझाया गया है ।

अन्त में विद्यानुरागी विद्वत्समाज से मेरा यही निवेदन है कि वे मुझे इस कार्य में सफलता मिलने के लिए परमेश्वर से प्रार्थना करें ॥

निवेदक—
प्रद्युम्नशर्म्मा ओझा

जयपुर सिटी
२५-१०-५०



भूमिका

वेदरहस्योद्घाटक गुरुत्रयं स्वर्गीय पं० श्रीमधुसूदनजी ओझाजी द्वारा निर्मित यज्ञविज्ञान विभाग के अवान्तर विभाग यज्ञमधुसूदन का यह "आधिदैविकाध्याय" ग्रन्थ विज्ञ पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जारहा है।

इसमें देवताधिकार आदि ६ प्रकरण हैं। इन प्रकरणों द्वारा ग्रन्थकार ने वेदों में प्रयुक्त देवता, पितर, ऋषि शब्दों के उस वास्तविक वेदसम्मत रहस्य को बतलाने का प्रयत्न किया है जो रहस्य सहस्राब्दियों से वैदिक परिभाषाग्रन्थों के नष्ट होजाने से लुप्तप्राय हो गया था।

परमपूज्य पण्डितजी महाराज ने वेदोद्धार का जो महान् प्रयत्न किया है उसका पूर्ण परिचय तभी हो सकेगा जब कि उनके सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो कर संसार के विद्वत्समाज के समक्ष पहुँचेंगे।

उनके ग्रन्थों के प्रकाशनकार्य में पण्डितजी महाराज के सुपुत्र पं० श्रीप्रद्युम्नजी ओझा प्राणपण से लगे हुए हैं और बहुतसे ग्रन्थों का प्रकाशन कर भी चुके हैं, परन्तु ग्रन्थों के अधिक होने से उनका प्रकाशन एक व्यक्ति की शक्ति से बाहर है। जब तक इसमें विद्यानुरागी धनी मानी व्यक्तियों का पूर्ण सहयोग प्राप्त नहीं होगा तब तक इस कार्य का सम्पन्न होना दुष्कर ही है।

यह हर्ष की बात है कि राजस्थान सरकार द्वारा संस्थापित संस्कृत मण्डल ने इस ओर कुछ ध्यान दिया है। आशा है यदि मण्डल इस कार्य की उपयोगिता को समझ कर इसमें सहयोग देगा तो यह अमूल्य साहित्य बहुत कुछ विद्वानों के समक्ष आ सकेगा।

हम इस उपोद्घात में क्रमशः उपर्युक्त अधिकारों में निरूपित विषयों को पाठकों की सुविधा के लिये संक्षेप से हिन्दीभाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं।



१–देवताधिकार—

इस प्रकरण में यह बतलाया गया है कि वेद में देवता शब्द पांच अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

१—कहीं वेद में देवता शब्द का प्रयोग संसार के उपादान कारण इन्द्रियागोचर द्युमण्डलवर्ती प्रकाशमान अग्निसोमसूर्यवरुण आदि तत्त्वों में हुआ है जैसा कि "चित्रं देवानामुदगादनीकम्" इस मन्त्र से तथा "आदित्यं वा अस्तं यन्तं सर्वे देवा अनुयन्ति" इस ब्राह्मणवचन से मालूम दे रहा है। यहां पर द्युमण्डलवर्ती सूर्यादि तत्त्वों के लिए देवताशब्द प्रयुक्त हुआ है।

२—कहीं देवता शब्द प्रकाशशील अश्विनी आदि नक्षत्रों में प्रयुक्त हुआ है जैसे "चत्वार एकमभिकर्म देवाः प्रोष्ठपदास इति यान वदन्ति" अष्टौ देवाः सौम्याश्चतस्रो देवीरजराः श्रविष्ठाः, यज्ञं नः पान्तु वसवः पुरस्ताद्दक्षिणतोऽभियन्तु श्रविष्ठाः" इत्यादि मन्त्रों में प्रोष्ठपदा श्रवणा आदि नक्षत्रों के लिये भी देवताशब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

३—वेद में देवता शब्द का प्रयोग विग्रहधारी चेतन सत्त्वप्रधान ब्रह्मप्रजापत्यादि प्राणिविशेषों में भी हुआ है। इस अर्थ में भी देवताशब्द का प्रयोग लोक व शास्त्रों में प्रसिद्ध ही है। इनका निरूपण पुराणादि में सर्वत्र मिलता है। ११ इन्द्रियां, ८ सिद्धियां व ९ तुष्टियां, ये२८ शक्तियां इनमें स्वभावसिद्ध होती हैं। जन्म, जरा, मरणादिसम्पन्न होते हुए भी इनका शरीर अपञ्चीकृत भूतों से बना हुआ होता है और इनके चरण पृथ्वी से संपृष्ट नहीं होते।

४—मान्त्रवर्णिक देवता अर्थ में भी देवता शब्द प्रयुक्त हुआ है। जो कर्म जिस उद्देश्य से किया जाता है, अथवा जिस मन्त्र का जिस उद्देश्य से उच्चारण किया जाता है उस कर्म व उस मन्त्र का वही उद्देश्यभूत वस्तु देवता होता है। यह मान्त्रवर्णिक देवता का अभिप्राय है।

५—देवता शब्द का प्रयोग श्रुताध्ययनसम्पन्न अनूचान यज्ञानुष्ठान द्वारा दिव्यात्मा सम्पन्न ब्राह्मणों में भी हुआ है जैसा कि तैत्तिरीय श्रुति में वर्णन मिलता है—

"यथा वै मनुष्या एवं देवाः अग्रे आसन् तेऽयजन्त।
ततो वेते आर्तिं पाप्मानं मृत्युमपहत्य दैवीं संसदमगच्छन्" ॥ इति।

इसी आधार पर आजकल ब्राह्मणों को भूदेव व भूसुर कहा जाता है।

देवता शब्द की इन पांचों प्रवृत्तियों को बतलाने के बाद यास्क व शौनकमतानुसार पृथ्वी, अन्तरिक्ष व द्युलोक भेद से अग्नि वायु व इन्द्र तीन भेदों का निरूपण किया है और शेष देवताओं का इन्हीं में अन्तर्भाव बतलाया है। आगे इन तीनों प्रधान देवताओं की भक्तियों का निरूपण और अग्निस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय व द्युस्थानीय देवगणों का परिगणन किया है। अन्त में देवता वस्तुतः एक ही है और अन्य सब देवता उसी के महिमा स्वरूप हैं यह भी बतलाया है। संक्षेप में देवताधिकरण में इसी तत्त्व का निरूपण है।

२—पितृनिरूपणाधिकार—

इस अधिकार में पितृरहस्य का निरूपण है। पितर पर (१), मध्यम (२), अवर (३) भेद से तीन प्रकार के हैं। ये ही क्रमशः (१) नान्दीमुख, (२) पार्वण, (३) प्रेत कहलाते हैं। इनमें पर पितर प्रसन्नमुख होने से नान्दीमुख कहलाते हैं, और शेष मध्यम व अवर पितर अश्रुमुख हैं। नान्दीमुख (पर) पितरों की अन्य पितरों की अपेक्षा ऊर्ध्वस्थिति है अतः ये ऊर्ध्वमुख और अमूर्त हैं।

नान्दीमुख पितर (१) सोमसद्, (२) बर्हिषद्, (३) अग्निष्वात्त भेद से तीन प्रकार के हैं। इन तीनों पितरों के क्रमशः (१) सनातन, (२) सोमपथ, (३) वैभ्राज ये तीन लोक, (१) सोम, (२) यम, (३) अग्नि ये तीन सहयोगी देवता, (१) अत्रि, (२) अङ्गिरा, (३) भृगु ये तीन ऋषि तथा उत्तर, मध्य व दक्षिण ये तीन दिशायें हैं। सोमसद् पितर साध्यों के, बर्हिषद् देवयोनियों के तथा अग्निष्वात्त देवों के पितर माने गये हैं। पितृप्राण ऋषिप्राणों से पैदा होते हैं जैसा कि "ऋषिभ्यः पितरो जाताः" यह मनुवचन प्रतिपादन कर रहा है। इनमें सोमसद् पितर विराट् ऋषिप्राण से पैदा होते हैं अतः वे वैराज कहलाते हैं, एवं बर्हिषद् व अग्निष्वात्त क्रमशः मरीचि व पुलस्त्य से पैदा होते हैं, अतः इन्हें क्रमशः मारीच व पौलस्त्य कहा जाता है। सोमसद् पितर असंख्य हैं। बर्हिषदों की संख्या ८६ ०० हैं और अग्निष्वात्तों की ६४००० हैं। यह उपर्युक्त बात नीचे की तालिका से स्पष्ट होजाती है :—

दिशः	देवाः	ऋषयः	पितरः	लोकाः	जनकाः	जन्याः	संख्याताः
उत्तरा	सोमः	पितृमान्	सोमसदः	सनातनाः	साध्यानाम्	वैराजाः	......
अन्तरा	यमः	अङ्गिरस्वान्	बर्हिषदः	सोमपथाः	देवयोनीनाम्	मारीचाः	८६०००
दक्षिणा	अग्निः	कव्यवाहनः	अग्निष्वात्ताः	वैभ्राजाः	देवानाम्	पौलस्त्याः	६४०००

इन पितरों की त्रित्व संख्या की उपपत्ति का निरूपण करते हुए लिखा है कि सांसारिक पदार्थ तीन प्रकार के हैं उष्ण शीत, अनुष्णाशीत। उष्ण द्रव्य सब अग्नि, शीत सोममय व अनुष्णाशीत सब यम हैं। अग्नि का स्वभाव ऊर्ध्वगामी होने से वह अवाची (दक्षिण) से सदा उदीची (उत्तर) की तरफ जाया करता है। सोम अधोगामि स्वभाव वाला होने से सदा उत्तर से दक्षिण की तरफ जाया करता है। ऊर्ध्व दिशा का नाम उदीची व उत्तर है एवं अधोदिशा अवाची व दक्षिण कहलाती है। इन दोनों तत्त्वों के बीच में इनका नियामक एक तत्त्व और है जो यम प्राण कहलाता है। अग्नि में सर्वदा सोम की आहुति होती रहती है। उसी से विश्व की उत्पत्ति होती है, और वे उत्पद्यमान पदार्थ जीवित रहते हैं। इसीलिये श्रुति "अग्निषोमात्मकं जगत्" इस वचन से विश्व को अग्निषोममय बतला रही है। मध्यस्थ यम जब अग्नि में सोमाहुति का प्रतिबन्ध कर देता है उस समय वह पदार्थ मर जाता है। इस तरह अग्नि, सोम, यम, ये तीन तत्त्व ही विश्व के उत्पादक हैं, अतः पितरों की संख्या तीन ही सिद्ध होती है इसीलिये इन तीनों पितरों को उत्तर मध्यम व दक्षिण ये तीन ही दिशाएँ हैं। उपर्युक्त प्रकार से पितरों की त्रित्व संख्या की उपपत्ति बतलाकर पुनः प्रकारान्तर से भी इसकी उपपत्ति बतलाई है और वह निम्न रीति से है।

संवत्सरात्मक प्रजापति के ऋत, सत्य नामक दो शरीर है। उनमें अग्नि ऋत शरीर तथा सोम सत्य शरीर है। उनमें ऋतशरीररूप अग्नि उत्तरायण में पैदा होकर वसन्त, ग्रीष्म व वर्षा ऋतु में उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है अतः इन तीन ऋतुओं तक अग्नि का वृद्धिकाल है। फिर शरद्, हेमन्त व शिशिर में उसका क्रमशः ह्रास होता है और दक्षिणायन के अन्त में उसकी मृत्यु हो जाती है। अतः शरदादि तीनों ऋतु उस ऋताग्नि का ह्रास काल है। ऋताग्नि का यह भोगकाल हो एक संवत्सर है। इसी ऋताग्नि के वृद्धि व ह्रास के तारतम्य से निष्पद्यमान अग्नि के ६ अवयव ही ६ ऋतुएं है ये ऋतुएं ही पितर हैं क्योंकि ऋतुओं से ही सब पदार्थों की उत्पत्ति होती है। इस ऋतु के भी दिवस, मास, संवत्सर भेद से तीन भेद होते हैं। अतः यह दिवस मासादि भेद से त्रिधा उपलक्षित ऋताग्नि तीन पितर हैं।

---

(२) पार्वणपितर :–

ये नान्दीमुख पितरों से नीचे रहते हैं। अतः ये अधोमुख व मूर्तिमान् हैं। इनके चार भेद हैं—(१) सोमप। (२) हविर्भुक्। (३) आज्यप (४) सुकाली।

[१] सोमप—सोमपान करने वाले पितरों के दो भेद हैं। (१) वैराज (२) काव्य। इनमें वैराजों का निरूपण नान्दीमुखों में हो चुका है। अतः परिशेषात् काव्य पितर पार्वण

पितरों में आते हैं। ये कवि से पैदा होते हैं। अतः काव्यपदव्यपदेश्य हैं। इन पितरों के लोक ज्योतिर्भास हैं।

[२] हविर्भुक्—हवि का आस्वादन करने वाले पितर हविर्भुक् या हविष्मान् हैं। ये अङ्गिरा से उत्पन्न होने के कारण आङ्गिरसपदव्यवहार्य हैं और इनका लोक मारीच है।

[३] आज्यप—आज्य ग्रहण करने के कारण ये आज्यप कहलाते हैं। इनके लोक तेजस्वी हैं।

[४] सुकाली—ये वसिष्ठ से पैदा होते हैं अतः इन्हें वासिष्ठ कहा गया है। इनके मानस लोक हैं।

ये चारों प्रत्येक वस्तु के पितर होते हैं फिर भी भिन्न २ वर्णों के विशेष तथा भिन्न भिन्न पितर माने गये हैं। इतना और ध्यान में रखना चाहिये कि यहां पर ब्राह्मणादिवर्ण केवल मनुष्यों में ही नहीं है. अपितु सृष्टि में वर्तमान चेतन व अचेतन सभी पदार्थ देवभेद से इन्हीं चार वर्णों में विभक्त हैं। जो आग्नेय पदार्थ हैं वे सब ब्राह्मण हैं ऐन्द्र क्षत्रिय है, वैश्यदेव्य वैश्य, तथा पूषदेवताक पदार्थ शूद्र है। सभी पदार्थ अग्नि, इन्द्र विश्वदेव, व पूष देवता से भिन्न भिन्न प्रकृति से पैदा होते हैं। अतः सभी पदार्थों में ये ब्राह्मणादि चारों विभाग हैं। इन चारों पितरों में सोम व आज्य के तरल होने से पान शब्द का प्रयोग किया है। जैसे सोमप, आज्यप। एवं हवि के घन द्रव्य होने से उसके ग्रहण में भोजन पद का व्यवहार किया है जैसे हविर्भुक्। इसमें भी जो द्रव द्रव्य अग्नि संयोग से जलकर ज्वाला रूप में परिणत हो जाते हैं उन्हें आज्य कहा जाता है; जैसे घृत, तैल मदिरा आदि। एवं जो तरल द्रव्य अग्निसंयोग से नहीं जलते हैं उन जल दूध आदि का सोम पद से व्यवहार किया गया है। इस तरह ग्राह्य द्रव्य के भेद से पितरों के तीन भेद हैं। किन्तु ये तीनों ही द्रव्य ग्रहण करते हैं, और चतुर्थ पितर सुकाली द्रव्य को ग्रहण नहीं करते हैं केवल उसका सम्बन्धमात्र प्राप्त करके लौट जाते हैं। ये चारों पार्वण पित पृथिवी, अन्तरीक्ष व द्युलोक में रहते हैं अतः इनके वसु, रुद्र व आदित्य सहकारी देवता कहलाते हैं। इसलिए याज्ञवल्क्य ने "वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः" ऐसा कहा है।

(२) प्रेत मनुष्य पितर—

मनुष्य पितरों का वर्णन वायुपुराण व ब्रह्मपुराणादि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। ब्रह्मपुराण में इनकी संख्या ७ मिलती है जैसे—पिता, पितामह, प्रपितामह, वृद्धप्रपितामह, अतिवृद्धप्रपितामह, वृद्धातिवृद्धप्रपितामह इत्यादि, जिनमें पिता, पितामह, प्रपितामह

को अश्रुमुख[1] तथा शेष को नान्दीमुख कहा गया है। मार्कण्डेय[2] पुराण में भी ऐसा वर्णन उपलब्ध होता है। ये सभी सौम्य हैं और शरीर त्याग के बाद सोममय चन्द्रलोक में ही जाते हैं। जैसा कि कौषीतकि श्रुति बतला रही है "ये वै के चास्माल्लोकात प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" (कौषीतकि०)। इन मानव प्रेतपितरों का श्रौतकर्म में अधिकार न होने से श्रौतकर्मोपयुक्त उपर्युक्त सात ही पितर हैं। श्रुतियों व पुराणादिवचनों में श्रूयमाण रश्मिप, स्वादुषद्, उपहूतादि अधिक पितरों का इन्हीं में अन्तर्भाव है। इनमें कितने ही इन्हीं के नामान्तर हैं और कितने ही इनके विशेषणवाची शब्द हैं एवं कतिपय क्रियावाची शब्द हैं। जैसे 'उपहूताः पितरः सौम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु' इस ऋङ्मन्त्र में उपहूतपद आह्वान का बोधक है न कि पितर का। इसी तरह रश्मिप, स्वादुषद् आदि पितरों के विशेषण हैं न कि पितृविशेष।

यहां पितृनिरूपणाधिकार में केवल प्रेतपितरों का ही निरूपण किया गया है। उपर्युक्त नान्दीमुख पार्वण व प्रेतपितृरूप ३ भेद प्रेतपितरों के ही हैं। इससे अतिरिक्त दिव्यपितर व ऋतुपितर ये दो भेद पितरों के और हैं जिनका निरूपण विस्तारपूर्वक ग्रन्थकार निर्मित "पितृसमीक्षा" ग्रन्थ में किया गया है। जिज्ञासुओं को उनके ज्ञान के लिए पितृसमीक्षा ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिये। इति।

३—ऋषिसामान्याधिकार—

ऋषिशब्द का वेदों में चार अर्थों में प्रयोग हुआ है। १—असल्लक्षण मूलप्राणों में, २—रोचनालक्षण तारकनक्षत्रादि में, ३—तत्तत्प्राणद्रष्टाओं में तथा ४—वक्ताओं में।

१—ऋषिशब्द का प्रथम प्रयोग सृष्टि के मूल उपादान असल्लक्षण प्राणों के लिये हुआ है। प्रत्येक वस्तु में सत्ता प्राणों के द्वारा आती है। मूल प्राण स्वयं अप्राण (प्राण रहित) है अतः वे असत् पद से व्यवहृत होते हैं और उसमें ऋषिशब्द का प्रयोग होता है जैसे—

---

१ पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः। त्रयोऽप्यश्रुमुखा ह्येते पितरः परिकीर्तिताः॥
तेभ्यः पूर्वतरा ये च प्रजावन्तः सुखोचिताः। ते तु नान्दीमुखा नान्दी समृद्धिरितिकथ्यते॥(ब्रह्मपुराण)

२ ये स्युः पितामहादूर्ध्वं ते स्युर्नान्दीमुखा इति। (मार्कण्डेय पुराण)

"असद्वा इदमग्र आसीत्। किं तदसदासीदिति। ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। के ते ऋषय इति। प्राणा वा ऋषयः। शत ६।१। "साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति। तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः 'प्राणा वै वसिष्ठ ऋषिः' 'मनो वै भारद्वाज ऋषिः' इत्यादि (१।१६४।१५) वचनों में असत् व मूलभूत प्राणों को ऋषि बतलाया गया है।

२—ऋषि शब्द का रोचनाशील नक्षत्र तारकादियों में भी प्रयोग देखा जाता है जैसे—एकं द्वे त्रीणि चत्वारीति व अन्यानि नक्षत्राणि, अथैता एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिकाः। ऋक्षाणां ह वा एता अग्रे पतय आसुः। सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते। अमी ह्युत्तरा हि सप्तर्षय उद्यन्ति पर एताः"। इत्यादि श्रुतियों में ताराओं के लिए ऋषि शब्द का प्रयोग हुआ है।

३—संसार के उपादानकारण इन्द्रियातीत द्युमण्डलवर्ती प्रकाशमान अग्नि, सोम, सूर्य, वरुण आदि देवताओं के विज्ञान के साक्षात्कर्तृत्व अर्थ में भी ऋषि शब्द का प्रयोग वेद में होता है। प्रकृतिव्याप्त जगदुपादानभूत तत्तद्देवतारूप तत्वों के विज्ञान का ऋषियों ने साक्षात्कार किया। इसी से वे 'दर्शनादृषिः' इस व्युत्पत्त्यर्थ को लेकर ऋषि कहलाये। इसी लिए "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः" ऐसा अभियुक्तों ने लिखा है। यहां मन्त्र-पद से तन्मूलभूत प्राणों के रहस्यात्मक विज्ञान का ग्रहण है न कि वर्णपदवाक्यसमूहात्मक मन्त्रों का। क्योंकि उन शब्दसमूहात्मक मन्त्रों का ऋषियों ने निर्माण किया है न कि साक्षात्कारमात्र। इसीलिये—

"यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिणः अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण"।
"नमः ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः" ॥

इत्यादि श्रुतियों में ऋषियों को शब्दात्मक वेद का कर्ता स्पष्ट रूप से बतलाया है। इतने पर भी "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः" इत्यादि स्मृतियों में शब्दात्मक वेद को नित्य कहना सर्वलोकात्मक, सर्वजगदुपादानभूत मूलभूत वाक् के अभिप्राय से है न कि वर्णात्मक वाक् के अभिप्राय से। उसी वाक् के विषय में "अथो वागेवेदं सर्वम्" यह ऐतरेय श्रुति का उद्घोष है। साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने ही वेद का निर्माण किया है, इसीलिए शब्दसमूह वेद में अनपेक्षत्वरूप स्वतः प्रामाण्य है। क्योंकि वेदसाक्षात्कृतधर्मा ऋषि पुरुषों का वचन है और द्रष्टा द्वारा दृष्ट पदार्थ के प्रामाण्य के लिए इतर पुरुष या प्रमाण के साक्ष्य की आवश्यकता नहीं जब कि श्रोता के वचन के प्रामाण्य के लिए द्रष्टा के वचन की आवश्यकता है।

निष्कर्ष यह है कि विज्ञानरूप से वेद अनादि व अपौरुषेय हैं, और वागात्मक वेद रूप से वे मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा कृत हैं, अतः पौरुषेय व सादि हैं। इन मन्त्रद्रष्टा विद्वान् मनुष्यों के लिये भी ऋषिशब्द का प्रयोग वेद में हुआ है जैसे—

"यज्ञेन वाचः पदवीमायँस्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्" 'अग्निः पूर्वेभि ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवां इह वक्षति' इत्यादि मन्त्रों में।

४—मान्त्रवर्णिक ऋषि के लिए भी वेद में ऋषिशब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। जिस वक्ता का जो मन्त्र होता है वही वक्ता उस मन्त्र सूक्त व वाक्यांश का ऋषि कहलाता है। तत्प्राणविज्ञानद्रष्टा ऋषियों ने ही उस विज्ञान का शब्दों द्वारा उपदेश किया। अतः प्रायः मन्त्रद्रष्टा ऋषि ही मान्त्रवर्णिक ऋषि भी कहलाते हैं, किन्तु कहीं कहीं मन्त्रद्रष्टा ऋषियों से भिन्न ऋषि भी मन्त्रादि के मान्त्रवर्णिक ऋषि देखे जाते हैं, क्योंकि उन मन्त्रों व सूक्तों में उन ऋषियों की ही वक्तृत्वेन विवक्षा कर दी गयी है। जैसे आम्भृणी सूक्त में आम्भृण ऋषि की पुत्री वाक् नामिका ऋषि ने त्रैलोक्यव्याप्त अनादि वाक्तत्त्व की स्तुति की है वहां अम्भृण पुत्री वाक् ऋषि का स्तूयमान वाक् रूप देवता के साथ अभेद हो जाने से आम्भृणी वाक् में ऋषित्व नहीं रहा, किन्तु मन्त्रद्रष्टृभिन्न स्तूयमान वाक् देवता को ही ऋषि मान लिया गया है क्योंकि यहां वर्णनीय (स्तूयमान) वाक् देवता की स्तुति उसी के द्वारा करवाई गई है।

निष्कर्ष यह है कि वेद में मन्त्रों को देवस्तव, संवाद व आत्मस्तव भेद से तीन भेदों में विभक्त किया है। वहां देवस्तुतिरूप मन्त्रों में स्तूयमान देवता भिन्न होता है और स्तावक ऋषि भिन्न। और उनमें स्तावक ऋषि ही उन मन्त्रों का ऋषि होता है। संवाद मन्त्रों में दो व्यक्तियों का परस्पर संवाद होता है, और वहां उन संवाद करने वालों में से क्रमशः एक ऋषि और एक देवता होता है। मन्त्रप्रणेता का ऋषित्व वहां विवक्षित नहीं होता जैसे अगस्त्य और इन्द्र के संवादसूक्त में क्रमशः अगस्त्य और इन्द्र ही ऋषि हैं और वे ही क्रमशः स्तूयमान देवता भी हैं, आत्मस्तव में मन्त्रप्रणेता या तो अपनी ही स्तुति करता है अथवा प्रतिपाद्य (स्तूयमान) देवता की उसी के मुख से स्तुति करवाता है। अतः वहाँ स्तूयमान देवता और ऋषि एक ही होता है भिन्न नहीं। इसका उदाहरण आम्भृणी वाक् सूक्त है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इन तीनों से अतिरिक्त मन्त्रों का एक भेद 'भावस्तव' और है। किन्तु उसका आत्मस्तव में अन्तर्भाव हो जाने से वह पृथक् नहीं माना जाता है। इसी तथ्य का निरूपण बृहद्देवता में शौनक ने निम्न रीति से किया है:—

नवकः प्रथमस्त्वासां वर्गस्तुष्टाव देवताः ।
ऋषिभिर्देवताभिश्च समूदे मध्यमो गणः ।
आत्मनो भाववृत्तानि जगौ वर्गस्तथोत्तमः ।
उत्तमस्य तु वर्गस्य य ऋषिः सैव देवता ।
आत्मानमस्तौद् वर्गस्तु देवतां यस्तथोत्तमः ।
तस्मादात्मस्तवेषु स्याद्य ऋषिः सैव देवता ।
संवादे प्राह वाक्ये यः स तु तस्मिन् भवेदृषिः ।
यस्तेनोच्येत वाक्येन देवता तत्र सा भवेत् ।

इस प्रकार चार भिन्न २ अर्थों में ऋषिशब्द का प्रयोग वेद में दृष्टिगोचर होता है । कहीं किसी अर्थ में और कहीं किसी अर्थ में । मन्त्रार्थ करते समय इस रहस्य को जानना आवश्यक है । ऋषिसामान्याधिकार में इसी तत्त्व का निरूपण किया गया है ।

४—सृष्टिप्रवर्तकाधिकार ।

ऋषियों के तीन विभाग बतलाये हैं । १-सृष्टिप्रवर्तक ऋषि २-गोत्रप्रवर्तक ऋषि एवं ३-वेदप्रवर्तक ऋषि । उनमें से इस प्रकरण में सृष्टिप्रवर्तक ऋषियों का निरूपण किया गया है । ऋषिसामान्य प्रकरण में ऋषिशब्द के असल्लक्षण, रोचनालक्षण, द्रष्टृत्वलक्षण व वक्तृत्वलक्षण भेद से चार प्रवृत्तिनिमित्त (अर्थ) बतलाये थे । उनमें असल्लक्षण (प्राणरूप) व रोचनालक्षण ऋषि सृष्टिप्रवर्तक हैं । शरीर की तरह प्रतीयमान इस हिरण्यमय ब्रह्माण्ड में एक स्वतंत्र तेजोघन आत्मा व्याप्त है जो कि संवत्सर, हिरण्यगर्भ, सर्वज्ञ, पुरुष, वैश्वानर इन नामों से व्यवहृत होता है, और जिसका निरूपण + पुरुषसूक्त ×, हिरण्यगर्भसूक्त आदि सूक्तों में ऋग्वेद में उपलब्ध होता है । उस पुरुष की जाग्रदवस्था विश्वप्रपञ्च की उत्पत्ति व उसकी सुषुप्ति विश्वप्रपञ्च की प्रलयावस्था है । किन्तु वह पुरुष कभी भी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है । जीवात्मा का परमात्मा में लय ही मृत्युपदव्यवहार्य है । और उस परमात्मा का किसी में लय होता नहीं अतः वह अमर है । सारा विश्व उसी का अङ्ग व उसी का रूप है । उसी पुरुष के शारीर प्राण सृष्टिप्रवर्तक ऋषि कहलाते हैं ।

जैसे मनुष्यशरीर में भूतमात्राओं से रस व भौतिक धातुओं की, तेजोमात्राओं से सब बलों की, एवं प्रज्ञामात्राओं से सभी ऐन्द्रियिक विषयों की, इस प्रकार सब तत्त्वों की उत्पत्ति

+ 'सहस्रशीर्षा: पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' । × 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इत्यादि ।

प्राण से होती है। एवं जैसे शरीर में वर्तमान पितर, देव आदि सभी तत्त्वोंकी भी उत्पत्ति प्राण से ही होती है, प्राणों में ही वे स्थित रहते हैं. और उसी में उनका लय होता है। उसी प्रकार प्रकृति में (विश्वप्रपञ्च में) सभी तत्त्व प्राणों से ही उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त परमात्मा से (वायुरूप हिरण्यगर्भ से) एक विराट् रूप मुख्य प्राण पैदा होता है जो अधिदैवत में विराट् कहलाता है। और शरीर (अध्यात्म) में तैजस। वही ब्रह्माण्डरूप शरीर में व मनुष्यशरीर में प्रविष्ट होकर दशधा विभक्त हो जाता है। वे ही दश प्राण जो कि अधिदैवत व अध्यात्म में पैदा होते हैं सारी सृष्टि करते हैं, अतः वे सृष्टिप्रवर्तक प्राण कहलाते हैं। इसी तथ्य का निरूपण "अयं वै प्राणो योऽयं पवते, यो वै प्राणः स आयुः" सोऽयमेक एव पुरुषोऽन्तः प्रविष्टो दशधा विहितः' यह वाजिश्रुति कर रही है।

हिरण्यगर्भरूप सूत्रात्मा से उत्पन्न विराट्रूप पुरुष ही अव्याकृत है, उस अव्याकृत विराट् से व्याकृत विराट् पुरुष पैदा होता है। यही व्याकृत विराट् पुरुष ❋ मनु कहलाता है, और उसी के अवयवभूत दश प्राणों से सम्पूर्ण सृष्टि पैदा होती है। और वे दश प्राण मरीच्यादि महर्षि हैं। इस सम्पूर्ण तथ्य का विस्तृत विवेचन मनु ने अपने मानवशास्त्र में "आसीदिदं तमोभूतम्" इत्यादि पद्यों से तथा "मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः। तेषामृषीणामाद्यानां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः। ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः। देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः" इत्यादि श्लोकों से किया है।

विराट् पुरुष के अवयवभूत इन दश ऋषिरूप प्राणों से अध्यात्म में भिन्न भिन्न धर्म पैदा होते हैं जैसे—मरीचि से संभूति (अपत्यादिसंस्कारधर्मप्रवृत्ति) अङ्गिरा से स्मृति, अत्रि से अनसूया, भृगु से ख्याति, वसिष्ठ से ऊर्क् (बल) क्रतु से विषयविशेष व व्यक्तिविशेष में प्रवणता, पुलस्त्य से प्रीति, पुलह से क्षमा, दक्ष से दक्षता, नारद से कलहकारी विरोध आदि। इसी रहस्य का निरूपण सृष्टिप्रवर्तकाधिकार में किया गया है।

५—वेदर्षिरहस्याधिकार।

ब्रह्म अथवा ब्रह्मविद्या वेदपदव्यवहार्य है। ब्रह्म ही यज्ञरूप से अपने आपको परिणत कर सारा विश्वप्रपंच बनाता है। इस यज्ञविज्ञान को भी वेद कहते हैं, इसी तरह सूर्यविज्ञान,

---

❋ तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्। तं मां वित्तास्य सर्वस्य द्रष्टारं द्विजसत्तमाः॥
प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

देवताविज्ञान व प्रजापतिविज्ञान भी वेद कहलाता है, और आधिदैविक तत्तत्प्राणविशेषों का साक्षात्कार करके उनके रहस्य के उपदेष्टा ऋषि वेदर्षि कहलाते हैं। वे वेदर्षि ६ हैं—मत्स्य १, वसिष्ठ २, अगस्त्य ३, भृगु ४, अत्रि ५, अंगिरा ६, कश्यप ७, कौशिक ८, विप्रकीर्ण ९।

ये मत्स्यादि भी दो प्रकार के हैं, प्राणविशेषरूप और उनके द्रष्टा (ज्ञाता) महर्षिरूप। प्राणविशेष में मत्स्यादि का मुख्य व्यवहार होता है और तद्विज्ञानवेत्ता एवं तदुपदेष्टा व्यक्तियों में विद्यासंयोगरूप संबंध के कारण गौण व्यवहार है। इन दोनों का ही यद्यपि निरूपण करना है तथापि इस अधिकरण में प्राणरूप मत्स्यादि का ही रहस्य बतलाया गया है।

मत्स्य, वसिष्ठ, अगस्त्य।

ये तीनों प्राण कुम्भरूप मान से उत्पन्न होते हैं अतः मान्य कहलाते हैं, तथा मैत्रावरुणि भी कहलाते हैं। वैज्ञानिक परिभाषा में अहः शब्दोपलक्षित पूर्वकपालवर्ती प्राण मित्रशब्द से तथा रात्रिशब्दोपलक्षित पश्चिमकपालवर्ती प्राण वरुण शब्द से व्यवहृत होता है, जैसा कि "मित्रः संसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह" 'वियो जघान शमितेव चर्मोपतस्तिरे पृथिवीं सूर्याय" इन श्रुतियों से स्पष्ट प्रतीत होरहा है। दोनों पूर्वपश्चिमकपालों से सम्बन्ध रखने वाली दक्षिणोत्तररेखारूप दिशा उर्वशी कहलाती है क्योंकि पंचचूड ब्राह्मण में भगवान् माहित्थि ने दिशाओं को ही निदानविद्या के अनुसार अप्सरा बतलाया है। पूर्व व अपर कपालों के सम्बन्ध से उत्पन्न या उभयकपालयोगात्मक अण्डरूप मान ही कुंभ कहलाता है, क्योंकि उसका कुम्भ के समान आकार है।

आपोमय अन्तरिक्ष वैज्ञानिक परिभाषा में समुद्र है। इसी आपोमय अन्तरिक्ष समुद्र में विहार करते हुए पूर्व पश्चिम कपालरूप मित्र और वरुण के दक्षिणोत्तररेखारूप दिशा से संयुक्त होने से इस कपालद्वयात्मक कुम्भरूप मान में अग्निप्रधान व अप्प्रधान वीर्य के प्रक्षेप से शीतवीर्य, उष्णवीर्य व अनुष्णाशीतवीर्यरूप तीन प्रकार के प्राणों की उत्पत्ति होती

---

१ प्राचीन काल में कुम्भ (घट) से धान्य मापा जाता था। अतः कुम्भ को मान शब्द से व्यवहृत किया है। इसी कुम्भरूप मान से उत्पन्न होने के कारण वसिष्ठ आदि ऋषियों को मान्य कहा गया है। इसी तथ्य का निरूपण शौनक ने निम्नलिखित रीति से किया है:—

"मानेन सम्मितो यस्मात् तस्मान्मान्य इहोच्यते।
यद्वा कुम्भाद्विनिर्जातः कुम्भेनापि हि मीयते॥
कुम्भ इत्यभिधानं च परिमाणं च लक्ष्यते॥"

है। इनमें शीतवीर्य उत्तरदिग्वर्ती सोमधर्मा सौम्यप्राण वसिष्ठ है। और उष्णवीर्य दक्षिण-दिग्वर्ती अग्निधर्मा तीव्र प्राण अगस्त्य है एवं मध्याकाशवर्ती उग्र अनुष्णाशीतवीर्य प्राण मत्स्य कहलाते हैं। उत्तरदिशा में सोम की प्रधानता होने से वसिष्ठ प्राण शीतवीर्य है। दक्षिण दिशा में अग्नि का निवास होने से तद्दिग्वर्ती अगस्त्य प्राण उष्णवीर्य है। एवं मध्य में दोनों सोम व अग्नि के समान रूप में मिश्रण से किसी का भी प्राधान्य न होने से मध्याकाशवर्ती मत्स्यप्राण अनुष्णाशीतवीर्य है। यह और ध्यान में रखना चाहिये कि उत्तरदिशा ऊर्ध्व प्रदेश का वाचक है और दक्षिणदिशा अधः प्रदेश का। अग्नि अधःप्रदेशवर्ती है तथा सदा नीचे से ऊपर की तरफ जाया करती है और सोम ऊर्ध्वदेशवर्ती है और ऊपर से नीचे की तरफ जाता है।

"अद्भ्यः पृथ्वी" इस श्रुति के अनुसार जल से पृथिवी बनती है। इसका अभिप्राय यह है कि जल में मरुत् के संयोग होने पर परस्पर के प्रत्याघात से दोनों के मर जाने से पृथ्वी बन जाती है। जल में वायु के संयोग से जलत्व नष्ट होने के बाद पृथिवीत्व जाति पैदा हो जाने पर उसके अवस्थाभेद से आप, फेन मृत, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयस् और हिरण्य ये आठ भेद होते हैं। जल में जिन मरुतों के संयोग से प्रारंभ के चार भेद बनते हैं वे मरुत् वसिष्ठ प्राण कहलाते हैं क्योंकि उनमें आप्य अंश की प्रधानता है। और अन्त के चार भेद जिस मरुत् के संयोग से बनते हैं वे अगस्त्य प्राण हैं क्योंकि वे आग्नेयांशप्रधान हैं। इसी से वे जल को सुखा कर उन परमाणुओं को संहत (इकट्ठे) कर देते हैं अतः वे भेद कठोर व सख्त होते हैं। यही वैज्ञानिक परिभाषानुसार इन जगत् व्याप्त तीनों प्राणों का रहस्य है।

भृगु, अंगिरा, अत्रि।

विद्याओं में अन्यतम नक्षत्रविद्या भी है। इसके ज्योतिश्चक्र व पुराणाख्यान ये दो भेद हैं। प्रथम में नक्षत्रों के उदय, अस्त, गति, दूरता आदि का विचार किया गया है। और द्वितीय में उन नक्षत्रों का अनायास ज्ञान प्राप्त करने के लिए विषुवदादि छन्द, नक्षत्ररथ आदि की कल्पना कर तथा नक्षत्रों में देवतात्व का आरोप कर उनके कल्पित कार्यों का निरूपण किया गया है। और इस आख्यानकल्पना का प्रयोजन यह है कि इससे मन्दमतियों की भी उस विषय में आख्यान के द्वारा आसानी से प्रवृत्ति हो जाती है। और उस व्यपदेश से बहुत सी वस्तुओं का निरूपण कर दिया जाता है। साथ ही सभी नक्षत्रों के शक्ति व गुण का ज्ञान भी हो जाता है। इतना ही नहीं निदानविद्या के द्वारा वहां आधिदैविक, आधिभौतिक व आध्यात्मिक तत्त्वों का विज्ञान भी बतला दिया जाता है, और मनुष्यों को इससे शिक्षा भी प्राप्त होती है।

उन्हीं आख्यानकों में से प्रकृत ऋषित्रय के विज्ञान का प्रदर्शक एक रोहिणीलुब्धक आख्यान ऐतरेय में मिलता है, वह निम्न रीति से है--

किसी समय प्रजापति ने मृग रूप धारण कर अपनी लड़की का कुत्सित विचार से पीछा किया। देवताओं ने विचार किया कि प्रजापति यह अनुचित कार्य कर रहे हैं। उन्होंने वे उसके मारने वाले को तलाश किया उन्होंने अपने शरीर के घोरतम भाग को एकत्रित करके एक देव पैदा किया। देवताओं ने उसे कहा कि प्रजापति अनुचित कार्य कर रहे हैं, अतः इनको मार दो। उसने कहा कि इसके बदले मुझे कुछ वर दो और वह वर उसने पशुओं के स्वामी होने का मांगा। देवताओं ने उसे वह वर दे दिया। और उसे प्रजापति को मारने के लिए कहा। उसने भी प्रजाति का शिर काट दिया। वह मृग रूप प्रजापति का शिरश्छेद करने वाला देव मृगव्याध नक्षत्र ही रोहिणी कहलाता है, और त्रिकाण्ड बाण त्रिकाण्ड तारा कहलाता है।

प्रजापति के मर जाने पर प्रजापति का वीर्य "मा दुषत्" दूषित न हो जाय ऐसा देवताओं ने कहा। अतः उनने जो "मा दुषत्" शब्द कहा वही परोक्षवृत्ति से मानुष कहलाता है। क्योंकि देवता परोक्षप्रिय हैं। प्रजापति का रेत जिसे सर कहा गया है वैश्वानर अग्नि द्वारा प्रच्यावित हुआ। और उसी से आदित्य भृगु, बृहस्पति व पशु आदि की उत्पत्ति हुई।

इस आख्यान में प्रजापति का अपनी दुहिता से अनुचित कार्य करने को उद्यत होने पर देवताओं का अप्रसन्न होकर रुद्र द्वारा प्रजापति के शिरश्छेद करवाने का निरूपण किया गया है। प्रजापति की दुहिता कौन थी इस विषय में मतभेद है। कितने ही उसे "द्यौः" मानते हैं, और कितने ही उसे "उषा" मानते हैं। इसी लिए वैदिक आख्यान में "दिवमित्यन्ये आहुरुषसमित्यन्ये" ऐसा कहा है। आख्यानिक इसे द्यौः स्वीकार करते हैं, और वैज्ञानिक उषा मानते हैं सर्वप्रथम आख्यानिकों के अनुसार द्यौः मान कर ही इस आख्यान के रहस्य का निरूपण किया जाता है।

कृत्तिका तारा से पूर्व, लुब्धक बन्धु से पश्चिम, चन्द्रमा से उत्तर, प्रजापति तारा व पुनर्वसु ताराओं से दक्षिण प्रदेश में वर्तमान द्युप्रदेश यहां द्यौः से लिया गया है, और तत्प्रदेशवर्ती तारा विज्ञान का निरूपण इस आख्यान में किया गया है।

कृत्तिका नक्षत्र से पूर्व की तरफ एक ज्योतिर्मय तारा है, उसका प्रकाश लोहित (रक्त) वर्ण का है अतः वह रोहिणी नाम से प्रसिद्ध है, इसे ही भृगु से उत्पन्न लक्ष्मी कहते हैं। रोहिणी के सामने ६ नक्षत्रों की दूरी पर दक्षिण की तरफ आकाश में एक रक्त वर्ण का तारा और है

जिसे ज्येष्ठा कहते हैं उसे ही आख्यान द्वारा तारा-विज्ञान निरूपण करने वाले विद्वान् दरिद्रा नाम से पुकारते हैं। ज्येष्ठा नक्षत्र के अर्ध भाग से लेकर रोहिणी पर्यन्त चन्द्रमा का आरोहण होता है। उन्नत होती हुई वस्तु का लक्ष्मी से तथा अवनत होती हुई वस्तु का दरिद्रता से सम्बन्ध माना गया है। अतः रोहिणी लक्ष्मी का तथा ज्येष्ठा दरिद्रता का रूप है, किन्तु दोनों का रूप रोहित ही है इसलिये दोनों को रोहिणी कहा गया है। तथा इन दोनों ताराओं से उपलक्षित द्यु प्रदेश में रोहित जाति वाली मृगी के रूप की कल्पना करनेसे भी इन दोनों को रोहिणी कहा जाता है।

इस रोहिणी नक्षत्र का पिता प्रजापति ब्रह्म हृदय तारा है जो कि ईशान कोण में है। कृत्तिका तारा इसका मस्तक माना गया है। कृत्तिका के सात तारे हैं। ये सातों तारे सातों शीर्षण्य प्राणों के उपलक्षक हैं। इसी रहस्य का उद्घाटन "प्रजापतेर्वा एतच्छिरो यत्कृत्तिकाः अग्निरास्यम्, सप्त कृत्तिकाः सप्त शीर्षन् प्राणाः १।६।६) यह मैत्रायणि श्रुति कर रही है— इसी ब्रह्महृदय तारा में व इस तारा से उपलक्षित द्युप्रदेश में रोहिणी के पिता की कल्पना की गई है। व्यविचार के लिए रोहिणी का पीछा करते हुए इस ब्रह्महृदयरूप प्रजापति के कार्य से विक्षुब्ध होकर रोचनारूप देवताओं ने सब ताराओं के तेज से युक्त उग्रवीर्य महाघोर मृग-व्याध नामक रुद्र को उत्पन्न कर उसके द्वारा प्रजापति का शिरश्छेदन करवा दिया। प्रजापति का यह कटा हुआ मस्तक मृगशिरा नक्षत्र है जो दक्षिण में बाणयुक्त की तरह दिखाई देता है। और छिन्नशीर्ष प्रजापति उत्तर में दिखाई देता है। रोहिणी नक्षत्र और बाण के मध्य में प्रजापति के क्षरित वीर्य से एक मानुष नामक सर बन गया है, उसका आधा विषुवत् से दक्षिण की तरफ तथा आधा विषुवत् से उत्तर की तरफ है। उस सर के उत्तर भाग में सटा हुआ एक अग्निनामक तारा है। अग्नि तारा के संयोग से प्रजापति के क्षरित शुक्र का एक बिन्दु प्रकाशमान है और दूसरा अप्रकाशमान। ये ही दोनों पुनर्वसु के दो तारे हैं। उन दोनों में पश्चिम की तरफ का आदित्य कहलाता है। और पूर्व की तरफ का भृगु। भृगु ऋषि प्राण है। ऋषिप्राण रूपादिरहित होने से प्रत्यक्षयोग्य नहीं है। अतः प्रत्यक्षत्व की उपपत्ति के लिये उसमें किसी विजातीय प्राण का सम्बन्ध मानना पड़ता है। और यहां पर वह प्राण वरुणरूप आसुरप्राण है, अतः भृगु को वारुणि कहा गया है। इन दोनों ताराओं से आगे लुब्धकबन्धु तारा तक कुटिलदण्ड के आकार की तीन तारा और हैं जो आदित्य कहलाते हैं। इनसे भिन्न अतिसूक्ष्म दृश्य व अदृश्य सभी तारे अंगिरा कहलाते हैं। उनमें प्रदीप्त (चमकता हुआ) लुब्धकबन्धु तारा बृहस्पति माना जाता है। मृगव्याध और रोहिणी के मध्य में प्रजापति के रेत से उत्पन्न अनेक जाति के अनेक वर्ण के पशु दिखाई देते हैं। इनका स्वामी पहिले प्रजा-पति था। प्रजापति का शिरश्छेद करने के बाद रोचनारूप देवताओं के वरदान के अनुसार वह

मृगव्याध इनका स्वामी बन गया। इस प्रकार इस आख्यान के द्वारा एतत्प्रदेशस्थ ताराओं का नाम, स्वभाव आदि का परिचय आसानी से हो जाता है। इसी आख्यान का वैज्ञानिक रहस्य भी है जो कि निदानविद्या के अनुसार प्रतीत होता है। वह निम्नलिखित है:—

१२ प्रजापतियों में एक 'द्यौः' नाम का प्रजापति भी है जैसा कि "द्यौः पिता जनिता" "द्यौः पितः पृथ्वी मातः" इत्यादि मंत्रों से सिद्ध होरहा है। उस प्रजापति की एक दुहिता है। जिसका नाम उषा है। इसका भी वर्णन "एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः"।

विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषो अद्येह सुभगे व्युच्छ"।

(१ मं० १६ अ० ११३ सू० ७ ऋ०)

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समनाः पुरस्तात्।
ऋतस्य पन्थानमन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति॥

(१।६।४६।१)

इत्यादि मन्त्रों में मिलता है। इस उषा रूप दुहिता का पीछा संवत्सर प्रजापति करता है, और यह वस्तुतः प्रकृतिसिद्ध है क्योंकि संवत्सररूप सूर्य का उदय उषा के बाद ही होता है। इसी का निम्नलिखित वेद मन्त्रों में भी निरूपण किया गया है। जैसे—

"सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्"

जैसे मनुष्य स्त्री का पीछा करता है उसी प्रकार सूर्य प्रकाशमान उषा का पीछा करता है अर्थात् उषःकाल के बाद सूर्योदय होता है।

यह संवत्सरात्मक सूर्य प्रजापति उषा में वैश्वानराग्निरूप रेतःसेक करता है। इससे एक वर्ष में कुमार अग्नि की उत्पत्ति होती है। यही उस संवत्सर प्रजापति का पुत्र है। उस कुमार अग्नि की अग्नि जल, ओषधि, वायु, विद्युत्, पर्जन्य, चन्द्रमा, आदित्य ये आठ मूर्तियां हैं। इन आठ मूर्तियों के क्रमशः रुद्र, सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव व ईशान ये नाम *याज्ञवल्क्य ने बतलाये हैं। ये आठों अग्नि के ही स्वरूप हैं। इन्हीं आठों को चित्राग्नि कहते हैं। +कुमाराग्नि नवम है।

सूर्य प्रजापति का जो शिर बाण से काटा था वह वैज्ञानिकपरिभाषानुसार घर्म (आतप) है। प्रजापति का यह प्रवृक्त भाग ही प्रवर्ग्य व महावीर कहलाता है। इस आदित्य

---

* शतपथ ब्राह्मण ६ काण्ड, १ अध्याय, ३ ब्राह्मण, ९-१८ कण्डिका।

+ तान्यतान्यष्टावग्निरूपाणि। कुमारो नवमः। शतपथ (६।१।३।१८)

प्रजापति का जो सर (रेत) क्षरित हुआ था वह सम्राट् है । जो यह तप रहा है वही घर्म है । वही सत्य तथा ज्योतिरूप है । यह धर्म संवत्सरात्मक सूर्य प्रजापति का छिन्न भाग है । इस प्रजापति के क्षरित रेत भाग से सारे मनुष्य, भूत, पशु व अन्य प्राणी पैदा हुये हैं । जो प्राणी मनः सम्पन्न अर्थात् ज्ञानशक्तिप्रधान हैं वे मनुष्य कहलाते हैं । इसी प्रजापति के रेतोभाग से अश्म, लोष्ट आदि असंज्ञ प्राणी दूर्वा, वृक्ष आदि अन्तःसंज्ञ प्राणी एवं सरीसृप आदि ससंज्ञ प्राणी तथा अन्य दृश्य व अदृश्य सभी प्राणी पैदा होते हैं । ये प्राणी पशु व भूत कहलाते हैं । इनका वही कुमार प्रजापति जो महावीर कहलाता है स्वामी है, अतः उसे भूतपति व पशुपति कहा जाता है । प्रजापति का वह रेतोरूप रस जिससे कि सभी प्राणी पैदा हुए हैं वैश्वानराग्नि से संपृष्ट होकर प्रज्वलित होता है । उस प्रज्वलित रस का अर्चिभाग भृगु तथा अङ्गारभाग अङ्गिरा बनता है ।

इस तरह सम्वत्सर प्रजापति के द्वारा उषा रूप दुहिता में सिक्त वैश्वानराग्निरूप रेत से सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती है । और उसी से भृगु, अङ्गिरा व अत्रि का स्वरूप बनता है यह रहस्य ऊपर बतलाया गया है, और इस विज्ञान के द्वारा कुमाराग्नि, चित्राग्नि व पश्वग्नि आदि के स्वरूप का भी निरूपण किया गया है ।

अब वाणीरूप दुहिता में सिक्त प्रजापति के रेत से भृग्वादि की उत्पत्ति का प्रकार बतलाया जाता है—

एक सर्वलोकव्याप्त सूक्ष्म निराकार आपोमय तत्त्व है जो कि समुद्र की तरह पृथ्वी के चौतरफ व्याप्त है, उसे सरस्वान् कहते हैं । उसी को कोई इन्द्र कहता है तथा कोई वरुण ।

अथवा सृष्टि के आदि में "तम आसीत्, तमसा गूढमग्रे" इस श्रुति के अनुसार और "आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्' 'अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः" इस मनुवचनानुसार तमोभूत इस विश्व में एक स्वयंभू नामक अग्नि पैदा होती है उस अग्नि से प्रच्यावित यह विश्व आपोमय बन जाता है । इस तरह इस विश्व में दो ही तत्त्वों की व्याप्ति रहती है, अग्नि और जल की । इसलिये 'सर्वमग्निमयं जगत्' सर्वमापोमयं जगत्' ऐसा कहा जाता है । उनमें अग्नि इन्द्र है और आप वरुण का रूप है । दोनों ही सर्वत्र समानरूप से व्यापक हैं । इस अग्निमय व आपोमय तत्त्व में किसी प्रकार का आघात होने से आहत प्रदेश से चौतरफ तरंगें शुरू होती हैं । उस आपोमय सरस्वान् समुद्र में जायमान यह तरङ्गधारा ही सरस्वती कहलाती है । सरस्वती का श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है किन्तु सरस्वान् समुद्र का नहीं । यही सरस्वती वाक् है यह वाक् अपौरुषेय, निराकार तथा सर्वव्यापक है तथा विश्व का कारण है । अतः 'वागेवेदं सर्वम्' यह कहा जाता है । यही सरस्वती निराकार वाक् अपौरुषेयवेदमयी है । इसी सरस्वती वाक् में पूर्व से संवत्सराग्नि का रस पश्चिम से वरुण

का रस आ कर मिलता है। उन रसों में वैश्वानराग्नि का योग होने पर ज्वाला पैदा होती है। इसमें जो वैश्वानराग्नि भाग है वह अङ्गिरा है जो कि अङ्गारों में दिखाई देता है। और वारुणभाग भृगु है तथा सरस्वती वाक् का जो भाग है वह अत्रि है। इसी वाच्य अत्रि प्राण का द्रष्टा ऋषि अत्रि कहलता है।

कश्यप।

सूर्यकिरणों के संघर्ष से उत्पन्न सूर्यकिरणस्थ जल का नाम मरीचि प्राण है। उस प्राण का द्रष्टा ऋषि भी यशोनाम से मरीचि ही कहा जाता है। उस मरीचि के पुत्र के कूर्म्म-नामक आदित्यप्राण का साक्षात्कार किया। आदित्य जिस रूप से अवच्छिन्न होकर सृष्टि की उत्पत्ति करता है, तद्रूपावच्छिन्न आदित्यप्राणसमूह कूर्म्म कहलाता है। वह कूर्म्म रूप आदित्य-प्राण कश्यप पशु के समानाकार वाला है अतः इस प्राण को आकृतिसाम्य से कश्यप भी कहा जाता है। यह कश्यपाकृति कूर्म्मप्राण पृथ्वी, अन्तरिक्ष व द्युलोक के रस, दधि, घृत व मधु से युक्त होता है और इसी से सारे पिण्डों की उत्पत्ति होती है। पाठकों की सरलता के लिए इसको कुछ और स्पष्ट किया जाता है—

खुले मैदान में खड़े होकर देखने वाले को चौतरफ प्रान्त भागों में समतल पृथ्वी से संलग्न उन्नत नीलवर्ण का आकाश दिखाई देता है। वहां समतल मण्डलाकार पृथ्वी अधः कपाल है और उससे प्रान्त भागों में संलग्न व मध्य में उन्नत नीलवर्ण आकाशरूप 'द्यौः' ऊर्ध्वकपाल है। ये असमान कपालवाली द्यावापृथिवी और उनके अन्तर्वर्ती अन्तरिक्ष ये तीनों सारे दृश्य प्रपंच के आवपन है। इनसे अवच्छिन्न प्राणघन ही कूर्म कहलाता है। इसीलिए कूर्मप्राण को द्यावा पृथिव्य कहा गया है। यह द्यावापृथिवी मय दृश्य प्रपञ्च का जनक प्राण कश्यप पशु के समान आकृतिवाला होने से लक्षणावृत्ति से कश्यप कहलाता है। क्योंकि कच्छप नीचे से समतल और प्रान्त भागों में पृथिवी से संलग्न और मध्यमें से उन्नत होता है उसी प्रकार यह द्यावापृथिव्यवच्छिन्न कूर्म्मप्राण भी है।

अथवा मुख्यार्थ को लेकर भी इस द्यावा पृथिव्य कूर्मप्राणमें कश्यपपद व्यवहार बन सकता है क्योंकि यह प्राण सब दृश्य प्रपंच का द्रष्टा है, द्रष्टा पश्यक कहलाता है अतः यह पश्यक है और पश्यक ही वर्णव्यत्यास को लेकर कश्यप कहलाता है। वह प्राण यद्यपि अचेतन है। अतः उसमें द्रष्टृत्व नहीं होना चाहिये। फिर भी द्रष्टा और दृश्यमण्डल के परस्पर सामञ्जस्य के सम्बन्ध से ही प्रत्येक वस्तु दिखाई देती है, इस सिद्धान्त के अनुसार द्रष्टृत्व रूप पश्यकत्वकी उपपत्ति अचेतन कश्यप प्राणमें बन जाती है। इसीलिये श्रुतिमें लिखा है 'अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वेति"। अथवा जिस तरह "आदेवो याति भुवनानि पश्यन्" अर्थात् सूर्यदेव लोकों को

देखता हुआ जाता है। इस श्रुति से प्रजाओं के साथ सूर्य के नित्यसंबंधमात्र से ही सूर्य में द्रष्टृत्व का व्यवहार श्रुति ने किया है, उसी तरह द्यावापृथिव्य कूर्मप्राण का तदुत्पन्न प्रजाओं से नित्य सम्बन्ध होने के कारण उसमें द्रष्टृत्व व्यवहार उपपन्न हो जाता है। जिस प्रकार कश्यप (कच्छप) पशु के ऊपर और नीचे जल का सम्बन्ध रहता है और रात दिन वह जल में विचरता है उसी प्रकार यह आधिदैविक द्यावा पृथिव्य कश्यपप्राण भी निरन्तर त्रैलोक्य व्यापी सूर्यकिरणसंघर्षोत्पन्न मरीचिजल से संपृक्त रहता है और उसी में विचरता है। यही मरीचि, जल, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौः, इन तीनों लोकों के दधि, घृत, मधुरसों से संपृक्त होकर रसमय बन जाता है। यह कश्यप प्राण द्यावापृथिव्य होने से द्युलोक पृथिवीलोक व तन्मध्यवर्ती अन्तरिक्षलोक से अवच्छिन्न होने से तीनों लोको के रसों से युक्त है। और वे तीनों रस, दधि, घृत व मधु है। दधि पृथिवी लोक का, घृत अन्तरिक्ष लोक का तथा मधु द्युलोक का रस है। सारी दृश्य सृष्टि की त्रिरसमय इसी प्राण से उत्पत्ति होती है। इसलिये शरीर में भी हम इन्हीं तीनों के कार्यों का अनुभव करते हैं। काठिन्यभाग घनीभूत दधि से बना हुआ है। द्रवप्राय भाग द्रवप्राय घृतरस से तथा वायुमय भाग विरलप्राय मधुरस से निर्मित है। इसी प्राण से सारी प्रजाएं उत्पन्न होती है। अतः यह कहा जाता है कि 'सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः' इति। अर्थात् यही कश्यप प्रजा पति सारी सृष्टि को पैदा करता है अतः कूर्म कहलाता है। इसीलिये श्रुति में लिखा है कि 'यदकरोत् तत् कूर्म्मप्राणः (कश्यप) अदिति से है। अतः प्रसंगवश अदिति के स्वरूप का भी निरूपण यहां किया जाता है।

अदितिनिरूपण।

वेद में दिति व अदिति चार प्रकार की है। १-सूर्यमूला, २-दृष्टिमूला, ३-नक्षत्रमूला, ४-आकाशमूला।

सूर्यमूला अदिति व दिति

सूर्य के सामने का पृथिवी भाग अदिति तथा सूर्यविरुद्ध दिशा में वर्तमान अर्थात सूर्य के असम्मुख पृथिवी भाग दिति कहलाता है। इसीलिये सूर्य के सामने सूर्यप्रकाश में आने वाले पृथिवीस्थ जल अदिति के सम्पर्क से आदित्य तथा उससे विपरीत सूर्य से विपरीत दिशा में जाने वाले पृथिवीस्थ जल दिति प्रदेश में जाने के कारण दिति के सम्पर्क से दैत्य कहलाते हैं। इतना ही नहीं सूर्य के सम्मुख द्युलोक से पृथिवी तक वर्तमान सारे ही पदार्थ अदिति कहलाते हैं। इसी अभिप्राय से निम्नलिखित मंत्र द्युलोक अन्तरिक्ष आदि सभी का अदितिरूप से निरूपण कर रहा है। जैसे—

" अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजनाः अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

२—दृष्टिमूला अदिति, दिति ।

द्रष्टा पुरुष जब समतल प्रदेश में खड़ा होता है उस समय वहां के भूमण्डल से उपलक्षित आधा अण्डकपाल उसको दिखाई देता है, और आधा नहीं जो दृश्य भाग है वह अदिति और अदृश्यभाग दिति है पृथिवी के परिभ्रमण से यह दृश्य बदलता रहता है अतः क्रमशः सारा अण्डकपाल दृश्य पड़जाने से वह सभी अदिति कहलाता है जैसा कि ऊपर मन्त्र में बतलाया गया है। यदि पूर्वमतानुसार सूर्यसम्मुखीन पृथिवी भाग को ही अदिति स्वीकार कर लिया जाय तो निम्नलिखित मन्त्रों में प्रतिपादित अदिति द्वारा सूर्य का त्याग व उसका पुनर्ग्रहण अनुपपन्न हो जायगा।

"अष्टौ पुत्रासो अदितिर्ये जातास्तन्वस्परि" देवां उपप्रैत सप्तभिः परामार्तण्डमास्थत्। सप्तभिः पुत्रैरदितिरुपप्रैत् पूर्व्यं युगम्। प्रजायै मृत्यवे तत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत्। इति।

+३—नक्षत्रमूला अदिति, दिति ।

एक वर्ष में सूर्य का १३ बार चन्द्रमण्डल से संयोग होता है अतः सूर्य के संयोग से विभक्त १३ चन्द्रकक्षा खण्ड बन जाते हैं। इन्हीं तेरह चन्द्रखण्डरूप दाक्षायणियों में कश्यप-पत्नीत्व का आरोप पुराणों में किया गया है। इनमें से एक अचला दाक्षायणी को अदिति कहते हैं। इस प्राकृतिक अदिति का स्थान आकाश में स्वाती नक्षत्र के उदयकाल, रेवती नक्षत्र के अस्तकाल और अश्विनी नक्षत्र की स्थिति के समय चन्द्रमार्ग पर वर्तमान खस्वस्तिक बिन्दु है, अर्थात पुनर्वसु का तृतीय चरण अदिति का स्थान इस प्रकार निश्चित होता है, क्योंकि उपरि प्रतिपादित नक्षत्रों की दशा में पुनर्वसु का तृतीय चरण ही खस्वस्तिकबिन्दु पड़ता इसके विपरीत अभिजित् तारा के पास की बिन्दु दिति का स्थान होता है। क्योंकि यह उस

+ अश्विन्यादि २८ नक्षत्रों के दो विभाग हैं एक रेवती नक्षत्र से हस्त नक्षत्र पर्यन्त, दूसरा चित्रा से उत्तराभाद्रपदा पर्यन्त। इनमें १४ नक्षत्र का पूर्वभाग देवमण्डल और १४ नक्षत्र का द्वितीय भाग आसुरमण्डल दैत्यमण्डल)है। देवमण्डल का मध्य केन्द्र पुनर्वसु नक्षत्र है। उसमें देवमण्डल केन्द्र बिन्दु को अदिति कहते हैं। और इससे विपरीत आसुरमण्डल के निर्मायक चतुर्दश नक्षत्रों में मध्यकेन्द्र अभि-जित् नक्षत्र है अतः तदुपलक्षित मध्यबिन्दु दिति कहलाती है ये ही नक्षत्रमूलक अदिति व दिति हैं।

समय अधः स्वस्तिकविन्दु पड़ता है। इसी रहस्य का निरुपण 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो-र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददनार्यसि" यह श्रुति कह रही है।

आकाशमूला अदिति, दिति।

अश्विनीनक्षत्र से चित्रानक्षत्रपर्यन्त आकाशमण्डल दैवसम्पत्ति से युक्त है इसमें मध्यस्थ अदिति है। इसी अदिति से उपलक्षित आकाशमण्डल लक्षणावृत्ति से अदिति कहलाता है। एवं स्वातीनक्षत्र से रेवतीनक्षत्र पर्यन्त अर्धाकाश आसुरसम्पत्ति से समन्वित है और उसी का मध्य भाग दिति है। दितिमण्डलोपलक्षित आकाशप्रदेश दिति कहलाता है। इन्हीं दिति व अदिति से संयुक्त सूर्यरूप संवत्सर सब प्राणों का जनक है।

कौशिक (विश्वामित्र)।

"कुशिकस्त्वैषीरथिरिन्द्रतुल्यं पुत्रमिच्छन् ब्रह्मचर्यं चचार।
तस्येन्द्र एव ··· ··· पुत्रो जज्ञे। गाथिनो विश्वामित्रः॥

इस कात्यायनवचनके अनुसार इन्द्र ही कौशिक व विश्वामित्र कहलाता है। यह इन्द्र 'यथाऽग्नि गर्भा पृथिवी' तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' इस श्रुति वचनानुसार द्युलोकव्यापी सौर प्राण है। इन्द्र ने स्वयं ऐतरेयारण्यक में विश्वामित्र को अपना स्वरूप बतलाते हुए 'प्राणो वा अहमस्मि ऋषे, प्राणस्त्वं प्राणः सर्वाणि भूतानि, प्राणो ह्येष य एष तपति, स एतेन रूपेण सर्वा दिशो विष्टोऽस्मि। इस श्रुति के द्वारा अपने आपको प्राणरूप बतलाया है। तथा इस सूर्य को प्राणरूप बतलाकर सूर्यरूप से अपने आपकी सर्व भूतों में व्याप्ति का निर्देश करते हुए स्वयं की सूर्यरूपता भी सिद्ध की है। यह प्राण 'वाक् वा अनुष्टुप् प्राणो बृहती' इस श्रुत्यनुसार बृहती भी कहलाता है। एवं यही भूतों में प्रविष्ट होकर चराचर का आत्मा व आयु बनता है। जब तक यह आयु प्राण रहता है तभी तक जीवन है। इसी रहस्य का निर्देश 'प्राणो व आयुः प्राणाउ ह्यमृतम्, यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः'यह कौषीतकि श्रुति कह रही है। यही प्राण सबका आत्मा होने से सबका मित्र ही है; किसी का भी विनाशक नहीं। अतः यह विश्वामित्र कहलाता है इसी की आराधना कर दीर्घायुष्य प्राप्त करने के लिये प्रातः सायं महर्षि सूर्योपस्थान करते थे।

"शतायुर्वै पुरुषः" इस वचन के द्वारा जो मनुष्य की सौ वर्ष की आयु बतलाई है उसके रहस्यका सम्बन्ध भी इसी से है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि यह सौरप्राणरूप इन्द्र बृहती कहलाता है और बृहती छन्द में ३६ अक्षर होते हैं। उन अक्षरों में से प्रत्येक अक्षर

विराट्रूप है। विराट् शब्द दश का वाची है इस प्रकार ३६×१०=३६० अक्षर होते हैं। यही ३६० दिन हैं जिससे कि एक वर्ष बनता है। इसी तत्त्व का निरूपण 'अयं वै प्राणो योऽयं पवते, यो वै प्राणः स आयुः, सोऽयमेक इवैवै पवते, सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टो दशधा विहितः। यह शतपथश्रुति कह रही है।

इनमें से प्रत्येक प्राण को फिर दशगुणा करके फिर दशगुणा करने से वही प्राण ३६००० संख्यावाला बन जाता है, किन्तु वह सहस्रदश से अतिरिक्त नहीं। अतः वह सहस्र-गुणा किये जाने परभी विराट् के दशत्व पर आपत्ति नहीं आती। 'तदेतत्सहस्रं तत् सर्वम्' तानि दश। दशेति सर्वम्। एतावती हि संख्या। दश दशतस्तच्छतम्। दश शतानि तत् सहस्रं तत् सर्वम्। यह ऐतरेयश्रुति शत व सहस्र को भी दशस्वरूप बतला रही है।

यह बृहती प्राण ३६००० प्रकार का है क्योंकि यह इन्द्रप्राण महाव्रतरूप है और महाव्रत में जो निष्केवल्यशास्त्र पढ़ा जाता है, उसमें पठ्यमान छन्दों के अक्षर ※३६००० हैं

※३ गायत्री ७२	३ गायत्री ७२	३ गायत्री ७२	३६००० आयुर्दायांश
३ बृहती १०८	३ बृहती १०८	३ बृहती १०८	३६००० सौवर्षों के दिन
३ उष्णिक् ८४	३ उष्णिक् ८४	३ उष्णिक् ८४	३६००० महाव्रतकर्म में पढ़े गये निष्केवल्य शस्त्र के अक्षर
२६४	३ गायत्री ७२	२६४	
४ गायत्री ९६	३ बृहती १०८	(८०) २११२०	शरीर में मनःप्राणवाङ्मय आयुर्दायांश
	३ उष्णिक् ८४		द्युलोक में मनःप्राणवाङ्मय संवत्सरभाग
३६०		१४८८०	यज्ञ में मनःप्राणवाङ्मय निष्केवल्यभाग
	३ बृहती १०८		
	३ उष्णिक् ८४	३६०००	
	७२०		
	१ गायत्री २४		
	७४४		
	(२०) १४८८०		

विश्वामित्र ने तीन बार अन्न शब्द का उच्चारण कर बृहतीसहस्रात्मक निष्केवल्य शास्त्र का शंसन किया था। "अन्नमशीतयः" इस श्रुति के अनुसार अशीति शब्द भी अन्न का वाचक है। और वह अशीति ८० संख्या का भी बोधक है। अतः अन्न शब्द से भी यहां ८० संख्या का बोध होता है और वह ८० संख्या तीन बार कही गई है। अतः उसे त्रिगुणित किया जाता है। इसी अभिप्राय से त्रिगुणित गायत्र्यादि छन्दों में अक्षरों का ८० से गुणा करके २११२० संख्या की उपपत्ति इस परिलेख में बतलाई गई है। इस तरह २११२० अक्षर हो जाते हैं। और शेष १४८८० प्रकारान्तर से होते हैं जिनका भी प्रकार परिलेख में बतला दिया है। दोनों को जोड़ने से ३६००० संख्या पूरी होजाती है।

अतः उन अक्षरों से प्रमित प्राणों की संख्या भी उतनी ही है। यही ३६००० संख्या वाला इन्द्ररूप बृहती प्राण सूर्य द्वारा हमारे शरीर में आकर हमारा आत्मा बनता है। इन ३६००० अक्षररूप प्राणों में से एक प्राण प्रतिदिन शरीर से निकल कर उसी परज्योति सूर्यरूप अक्षर में मिल जाता है जिससे प्रवृक्त (पृथक्) होकर ये आये थे। वही परज्योति विज्ञानरूप अक्षर विशुद्ध ब्रह्म कहलाता है। इस प्रकार १८० वर्ष में सभी अक्षररूप प्राण शरीर से निकल कर प्रज्ञान के बन्धन से हटकर उसी विशुद्ध पर ज्योति में मिल जाते हैं। इसी रहस्य का निरूपण निम्न ऐतरेय श्रुति में किया गया है:—

'अ इति ब्रह्म तत्रागतमहमिति। तद्वा इदं बृहतीसहस्रं सम्पन्नम्। तस्य वा एतस्य बृहतीसहस्रस्य सम्पन्नस्य षट्त्रिंशतमक्षराणां सहस्राणि भवन्ति। जीवाक्षरेणैव जीवाहराप्नोति, जीवाह्वा जीवाक्षरम्" (ऐ० आ० २।३।८)

इस इन्द्ररूप विज्ञानात्मा के शरीर से निकल जाने पर तत्सम्बद्ध प्रज्ञानात्मा (जीव) भी शरीर छोड़ कर चला जाता है। क्योंकि ये दोनों शरीर में साथ ही रहते हैं और साथ ही शरीर से निकलते हैं। इसीलिये कौषीतकि श्रुति 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मा इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति, यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः, सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः" इस वचन के द्वारा साथ ही दोनों की शरीर में स्थिति व उत्क्रान्ति बतला रही है। विज्ञान व प्रज्ञान दोनों के उत्क्रान्त हो जाने पर शरीर भी किसी विधारक प्राण के न होने से पृथ्वी पर गिर जाता है, और इस तरह मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। इस तरह पुरुष की आयु १०० वर्ष की होती है इसमें कारण यही बृहतीरूप इन्द्र प्राण ही है। 'यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः' यह कौषीतकि श्रुति इन्द्ररूप प्राण को ही आयु सिद्ध कर रही है। यह प्राण १०० वर्षों में इस शरीर को छोड़कर अपने उद्गम सूर्य प्राण में मिल जाता है और इसके उत्क्रान्त होने पर इससे सम्बद्ध प्रज्ञानप्राण (जीव) भी उत्क्रान्त हो जाता है अतः मनुष्य इसके बाद जीवित नहीं रह सकता। इसी अभिप्राय से 'शतायुर्वै पुरुषः' इत्यादि श्रुतियां पुरुष की १०० वर्ष की आयु बतला रही हैं।

ये रश्मिमय सूर्य प्राण ही जो कि सूर्यपिण्ड के चौतरफ रहते है बालखिल्य कहलाते हैं। यद्यपि ये सूर्य रश्मियां परस्पर मिश्रित सी प्रतीत होती हैं तो भी इनके बीच में थोड़ा अवकाश रहता है, और ये परस्पर में भिन्न भी हैं। रश्मियों का मध्यवर्ती यह अवकाश ही खिल कहलाता है और यह अवकाशरूप खिल बालमात्र का है अर्थात् बाल के परिमाण का है अतः इन प्राणों को बालखिल्य कहा जाता है। इसलिये शतपथब्राह्मण में इन प्राणों का निरूपण करते हुए लिखता है "प्राणा वै बालखिल्याः प्राणेनैवैतदुपदधाति ता यद् बालखिल्या

नाम । यद्वाऽडवर्वरयोरसम्भिन्नं भवति खिल्ल इति वै तदाचक्षते वालमात्रादु हेमे प्राणा ऽसम्भिन्नास्ति यद् बालमात्रादसभिन्नास्तस्माद्वालखिल्य:।" इति शतपथ ८।२।१।१ ॥

६—वेदप्रवर्तकऋष्यधिकार: ।

इस अधिकार में शब्दरूप वेद के प्रवर्तक ऋषियों का निरूपण किया गया है। अर्थात् तत्तत्प्राण का प्रत्यक्ष कर उस प्राणरहस्य को मंत्रबद्ध करने वाले ऋषियों का निरूपण इस अधिकार में किया है। अत: इस अधिकार में प्रतिपादित ऋषियों में ऋषि शब्द का द्रष्टृत्वलक्षण प्रवृत्तिनिमित्त है। इन वेदप्रवर्तक ऋषियों में कितने ही द्रष्टा ऋषि उसी प्राण के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं जिस प्राण के रहस्य का उनने साक्षात्कार किया। जैसे शतपथ ब्राह्मण में चयनयज्ञनिरूपणस्थल में वसिष्ठ, भरद्वाज, जमदग्नि, विश्वामित्र, विश्वकर्म आदि शब्दों को प्राणवाचक बतलाया है। अत: प्रधानतया ये शब्द विश्वव्याप्त असल्लक्षण प्राण के बोधक हैं। किन्तु वसिष्ठ, भरद्वाजआदि तत्तत्प्राण द्रष्टा ऋषियों को भी लक्षणावृत्ति से वशिष्ठादिशब्दों से ही लोक में शास्त्र व्यवहृत में किया गया है, अत: यह निश्चित है कि यहाँ उन प्राणों में व तद्द्रष्टा ऋषियों में एक ही शब्द का व्यवहार हुआ है, और वस्तुत: वह शब्द मूल प्राण का वाचक है, किन्तु उस प्राण के उद्भावक द्रष्टा ऋषियों में भी उसी शब्द का लाक्षणिक व्यवहार हुआ है। ये वशिष्ठादि प्राणनाम उन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के यशोनाम कहे जाते हैं। ऋषियों के संज्ञाभूत नाम भिन्न थे, किन्तु धीरे धीरे इन यशोनामों के अधिक प्रचलित हो जाने से वे याद्दच्छिक नाम लुप्त हो गये। किसी किसी ऋषि का यशोनाम के साथ याद्दच्छिक नाम भी मिलता है जैसे भरद्वाज का विदथी अथवा विदधी। इसी प्रकार वाक् जुहू, दक्षिणा व श्रद्धा आदि भी तत्तत्प्राणों के उद्भावक ऋषियों के यशोनाम ही हैं।

कहीं कहीं इसके विपरीत उद्भावित प्राणों का नामकरण तत्तत्प्राणोद्भावक ऋषियों के नाम से हुआ है जैसे कुमार व अप्रतिरथ। कुमार प्राण का साक्षात्कार कुमार नामक ब्राह्मण बालक ने किया था जिसकी त्रैवृष्ण राजा के चक्र के आघात से मृत्यु हो गई थी, और अदृश जानने जिसे पुनरुज्जीवित किया था। उस कुमार से दृष्ट होने के कारण उस मूल प्राण का भी कुमार नाम से व्यवहार हुआ। इसी तरह इन्द्रपुत्र अप्रतिरथ ने संग्राम में विजय प्रदान करने वाले इन्द्रप्राण का साक्षात्कार किया, अत: इन्द्रप्राण भी वेदों में अप्रतिरथ नाम से ही प्रसिद्ध हो गया।

उपर्युक्त रीति से प्राय: उद्भावित प्राणों में व उद्भावक (साक्षात्कर्ता) ऋषियों में समान शब्द का व्यवहार वेद में देखा गया है। कहीं कहीं ऐसा नहीं भी होता जैसे अज–

पृश्नि नामक ऋषियों से दृष्ट प्राण का अजपृश्नि शब्द से व्यवहार नहीं हुआ है, और न उस प्राण के नाम से उन ऋषियों का बोध हुआ है।

कितने ही ऐसा मानते हैं कि वशिष्ठादि ऋषियों में वशिष्ठादि शब्द का प्रयोग केवल वशिष्ठादि प्राणों का उन्होंने साक्षात्कार किया है एतावता ही नहीं हुआ है, अपितु उनमें वशिष्ठ प्राण की प्रधानतया सत्ता थी अतः तत्प्राण प्राधान्य होने से वे वशिष्ठादि नामसे व्यवहृत हुए है।

अथवा 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषोयो यच्छ्रद्धः स एव सः' इस सिद्धान्त के अनुसार जिस व्यक्ति में वसिष्ठ प्राण के प्रति विशेष श्रद्धा थी वह व्यक्ति वसिष्ठ नाम से व्यवहृत हुआ और जिसकी विश्वामित्र प्राण के प्रति अधिक श्रद्धा थी वह विश्वामित्र नाम से। यही सिद्धान्त अन्य नामों में भी लागू होता है।

ये वेदप्रवर्तक ऋषि प्रधानतया मत्स्य, वसिष्ठ, अगस्त्य, भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, कश्यप व कौशिक हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वेदमन्त्रों के निर्माता ये ही ऋषि हैं, अपितु ये आठ वंश हैं। इनने व इनके वंशवालों ने प्राकृतिक प्राणों का साक्षात्कार कर तत्तत्प्राण रहस्यनिरूपक वेद का निर्माण किया। इनके वंशज भी उन्हीं वेदप्रवर्तक ऋषियों के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। वसिष्ठादि गोत्र नाम हैं उनके वंशज भी इसी नाम से व्यवहृत होते हैं। अतः वसिष्ठ वंशवालों से निर्मित वसिष्ठसंहिता कहलाती हैं। इसी तरह अन्य संहितायें भी। वेदप्रवर्तक आठ ब्राह्मणों में वेद प्रवर्तक उपर्युक्त आठ ही महर्षि हैं। अतः आठ संहितायें प्रसिद्ध हैं। इस अधिकरण में इन्हीं संहिताओं का तथा उन संहिताओं के निर्माता ऋषियों के नाम का निर्देश हैं। वे आठ संहितायें—१-वसिष्ठसंहिता, २-अगस्त्यसंहिता, ३-भृगुसंहिता ४-अंगिरःसंहिता, ५-अत्रिसंहिता, ६-कश्यपसंहिता, ७-कौशिकसंहिता हैं। मत्स्यमहर्षिका एक ही मन्त्र है उनके वंशजों ने कोई वेद मंत्र का निर्माण नहीं किया अतः उनकी कोई पृथक् संहिता नहीं।

इनमें भी अंगिरः संहिता, अथर्व संहिता, घोरसंहिता, गौतमसंहिता, उतथ्यसंहिता, बृहस्पतिसंहिता, गणधरसंहिता भेद से ६ प्रकार की है। इसमें भी घोर संहिता के फिर तीन अवान्तर भेद हैं। घोरसंहिता, कण्वसंहिता व प्रगाथसंहिता।

इन संहिताओं से अतिरिक्त विप्रकीर्ण संहिता और है। जिसमें मन्त्रद्रष्टा ब्रह्मर्षियों, राजर्षियों, स्त्रियों तथा शूद्रों से निर्मित मन्त्रों का समावेश है। यह संहिता, आभाससंहिता। १-राजर्षिसंहित २-अब्राह्मसंहिता ३-ब्रह्मवादिनी संहिता व ४-उद्‌भट संहिता ५ भेद से पांच प्रकार की है। आभास संहिता में उन मन्त्रों का समावेश है जिन मन्त्रों के कर्ता का

मालूम नहीं, किन्तु अवक्तृभूत अर्थों को ही उनका वक्ता मान लिया गया है। उसमें २४ वर्ग हैं जिनमें आठ वर्ग वाला दैवतव्यपदेश है क्योंकि उन मन्त्रों में वक्तृत्वेन कल्पित अर्थ देवतारूप हैं। दश प्रकार वाला वर्ग ऋषिव्यपदेश है, और ६ वर्गवाला तिर्यग्व्यपदेश है क्योंकि इनमें वक्तृत्वेन कल्पित अर्थ ऋषिवर्ग व तिर्यग्वर्ग के हैं।

राजर्षिसंहिता में राजर्षियों द्वारा दृष्ट मंत्रों का संग्रह है। इसमें पांच वर्ग हैं— १–काशिराजवंश, २–भारतवंश, ३–वर्षागिरवंश, ४–मान्धात्रादिगण व ५–सुमित्रादिगण।

अब्राह्मसंहिता में शूद्रों द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संग्रह है। ब्रह्मवादिनी संहिता में उन मंत्रों का संग्रह है जिनका निर्माण ब्रह्मवादिनी स्त्रियों ने किया है ये ब्रह्मवादिनी स्त्रियां२० हैं।

उद्भट संहिता में उन संहिताओं से अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थों व कल्पग्रन्थों में उपलभ्यमान मन्त्रों का संग्रह है। इस उद्भटसंहिता में निरूपित मन्त्रों का ऋषि "अनुकृष्टस्तु यः कश्चित्कल्पोऽथ ब्राह्मणोऽपि वा। मन्त्रः पद्योऽथ गद्यो वा वामदेव्यं निबोधत। शांखायन ८।१५।१५ इस शांखायनोक्ति के अनुसार वामदेव माना गया है।

ये उपर्युक्त वेदमंत्रद्रष्टा ऋषि चार भेदों में विभक्त हैं। १–शतर्ची, २–माध्यम, ३–महासूक्त व ४–क्षुद्रसूक्ता। १०० ऋचाओं के निर्माता शतर्ची हैं, और माध्यम उससे न्यून संख्याक मन्त्रों के निर्माता, एवं महासूक्त उससे भी न्यून के निर्माता एवं क्षुद्रसूक्त उससे भी कम ऋचाओं के निर्माता हैं।

ऋग्वेद में प्रथम मण्डल के मंत्रप्रणेता शतर्ची हैं। दूसरे मण्डल से नवम मण्डल तक के निर्माता माध्यम है। दशम मण्डल में नासदासीयसूक्त से पूर्व के निर्माता महासूक्त एवं नासदासीयसूक्त से लेकर उत्तर सूक्तों के निर्माता क्षुद्रसूक्त कहलाते हैं।

७–आयुर्दायचिन्ताधिकार।

पूर्व अधिकार में वेदप्रवर्तक ऋषियों का निरूपण किया गया है और वेदप्रवर्तक ऋषि मनुष्य हैं। अतः प्रसङ्गवशात् मनुष्य की आयु कितनी है इसका इस अधिकार में निरूपण किया जाता है।

मनुष्य की आयु साधारणतया १०० वर्ष की मानी गई है "शतायुर्वै पुरुषः, 'पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतम्"

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान शतमु वसन्तान्।
शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः॥

इत्यादि श्रुतिवचन तथा आशीर्वादवचन 'मनुष्य की आयु १०० वर्ष की होती है' इसी बात को सिद्ध कर रहे हैं।

कितने ही 'अपि हि शताद् भूयांसि वर्षेभ्यो जीवति' इस श्रुति को प्रमाणरूप से उपन्यास करते हुए हजारों वर्ष मनुष्य की आयु सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, किन्तु उनका यह प्रयास अविचारपूर्ण है, क्योंकि ऐसा मानने में उपर्युक्त श्रुतिवचनों का एवं लौकिक अनुभव का विरोध होता है। और 'शताद् भूयांसि वर्षेभ्यो जीवति' यह श्रुति भी मनुष्य सौ वर्ष से अधिक जी सकता है इसी बात को बतला रही है न कि मनुष्य की आयु १००० वर्ष की होती है इस बात को सिद्ध कर रही है। इसीलिये ऐतरेय श्रुति में 'स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्' इस वचन के द्वारा ११६ वर्ष अर्थात् १०० से कुछ अधिक वर्ष का जीवनकाल ही महीदास का बतलाया गया है न कि १००० वर्ष का। लौकिक अनुभव भी इसी बात की पुष्टि कर रहा है। इसके अतिरिक्त—"संवत्शरशतं नृणां परमायुर्निरूपितम्" भागवत स्कन्ध ३ अ० १११ श्लोक १२) "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः, (ईशोपनिषद्) इत्यादि श्रुतिस्मृतियां भी मनुष्य को शतायु ही सिद्ध कर रही हैं।

'शतं जीव शरदो वर्द्धमानः, इत्यादि श्रुतियों में शत को असंख्यातवाची मानकर मनुष्य की १००० वर्ष की आयु सिद्ध करने का प्रयास भी नितान्त अविवेकपूर्ण है. क्योंकि शत का असंख्यात अर्थ प्रमाणविरुद्ध है एवं शब्दशक्तिविरुद्ध भी है। मनुष्य की आयु किसी भी दशा में एक हजार वर्ष की नहीं होती। इसीलिये ताण्ड्यश्रितसत्रब्राह्मण में 'उप तं यज्ञक्रतुं जानीत यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा ? को हि तस्मै मनुष्यो यः सहस्रसंवत्सरेण समाप्नुयात्। इस वचन के द्वारा सहस्रसंवत्सरसाध्य यज्ञ की समाप्ति मनुष्य नहीं कर सकता यह बतलाया है।

कुछ व्यक्ति ऐसा मानते है कि 'शतायुर्वै पुरुषः' यह श्रुति मनुष्य की १०० वर्ष की आयु बतला रही है, किन्तु यह कलियुगमें मनुष्यों की आयु है। कृतादियुगों में मनुष्य की आयु इससे बहुत अधिक होती थी। क्योंकि युगभेद से मनुष्यों की आयु में न्यूनाधिकता होती रहती है। इसीलिये भगवान् मनु ने कृतादियुगभेद से मनुष्यों की आयु भिन्न बतलाई है।[1] तथा मनुष्य की सौ वर्ष की आयु कलियुग में ही सिद्ध की है। कृतादियुगों में मनुष्य की

१—अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ॥
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ॥
वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम् ॥
फलं त्वनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥

आयु४०० वर्ष की बतलाई है। और भले ही साधारण मनुष्यों की आयु १०० वर्ष की ही क्यों न हो किन्तु मनुष्य ऋषियों की आयु हजारों वर्ष की हो सकती है। किन्तु उनका यह कथन भी प्रमाण की कसौटी पर कसने से अप्रामाणिक ही ठहरता है, क्योंकि अन्यत्र श्रुतियों,स्मृतियों व लोक में कहीं भी ४०० वर्ष की आयु मनुष्य की उपलब्ध नहीं होती। अतः अन्य श्रुति स्मृतियों के विरुद्ध होने के कारण मनु वचन को युगधर्मप्रशंसापरक मानना चाहिये या उसका दूसरा अभिप्राय मानना चाहिये। अथवा योगमहिमा से योगियों की ४०० वर्ष को आयु मानी भी जा सकती है किन्तु १००० वर्ष की आयु तो मनुष्य की किसी भी तरह किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती। इस विषय में भगवान् जैमिनि व भाष्यकार शाबर का मत भी नीचे उद्धृत किया जात है।

वेदप्रतिपादित सहस्रसंवत्सरसाध्यसत्र की समाप्ति मनुष्य द्वारा अशक्य होने से पूर्व मीमांसा में भगवान् जैमिनि[2] व भगवान् भाष्यकार शबरस्वामी ने उस सत्र में देवगन्धर्वादियों का अधिकार बतलाया है—और इस[3] विषय में श्रुति का भी प्रमाणतया उपन्यास किया है। इस तरह समाधान करने के बाद वस्तुतः यज्ञादिविधायक शास्त्र मनुष्यों के लिये ही प्रवृत्त हुआ हैं अतः उसमें मनुष्य का ही अधिकार होना चाहिये, इस तरह सहस्रसंवत्सरसाध्यसत्र में भी मनुष्यों का ही अधिकार बतलाया है। किन्तु ऐसा मानने पर यह आपत्ति आती है कि मनुष्यों की इतनी दीर्घ आयु होती नहीं जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। आयुर्वेद में प्रतिपादित रसायनादिप्रयोग भी अग्नि के बढ़ाने में वलीपलितादि के नाश करने में एवं सुन्दरवर्ण प्रसन्नता आदि के सम्पादन करने में ही समर्थ है न कि आयुवर्द्धन में। यदि उनसे आयु की वृद्धि होती तो 'शतायुर्वै पुरुषः' इत्यादि श्रुति पुरुष को आयु १०० वर्ष की न बतलाती। इसीलिये च्यवनादि के उपाख्यान में इतना ही वर्णन मिलता है कि वे रसायन सेवन से वृद्ध से युवा बन गये। अर्थात उनके शरीर में वृद्धावस्था के धर्म वलीपालित्यादि नष्ट हो गये। उनकी अवस्था बढ़ गई ऐसा वर्णन नहीं मिलता। यदि कहीं रसायनादिसेवन से किसी पुरुष की आयुर्वृद्धि होती तो उस विशेषदर्शन से अन्यत्र भी 'रसायनादि आयु वृद्धि के कारण हैं' इसका अनुमान कर लिया जाता,परन्तु ऐसा कहीं देखा नहीं गया है। और फिर रसायनादि से आयु की वृद्धि मानी भी जाय तो थोड़ी बहुत मान सकते हैं। हजारों वर्ष की आयु तो रसायनादि से किसी प्रकार बढ़ नहीं सकती। इसीलिए "शतान्यायुः यस्य सः" ऐसा विग्रह मान कर सैकड़ों वर्ष जिसकी आयु होती है उसे शतायु

२—सहस्रसंवत्सरं तदायुष्मासम्भवान्मनुष्येषु। ६ अ०

३—"प्रजापतिं वै प्रजाः सृजमानं पाप्मा मृत्युरभिजघान। स तपोऽतप्यत सहस्रसंवत्सरान् पाप्मानं विजिहासन्"। इति।

कहते हैं इस प्रकार शतायु का अर्थ मानकर भी "शतायुर्वै पुरुषः" इस श्रुति से मनुष्य की हजारों वर्ष की आयु नहीं मान सकते क्यों कि वैयाकरण द्विवचनान्त बहुवचनान्तों का समास ही नहीं स्वीकार करते हैं। अतः किसी भी प्रकार मनुष्य की सहस्र वर्ष की आयु सिद्ध न होने से सहस्रसंवत्सरसाध्यसत्रादि में मनुष्य का अधिकार किस तरह हो सकता है यह शंका बनी रहती है।

इसका उत्तर मतभेद से जैमिनि ने दिया है। मनुष्य की सहस्रवर्ष की आयु न होने पर भी एक व्यक्ति द्वारा प्रारम्भ किये गये सहस्रसंवत्सरसाध्यसत्रादि की पूर्ति वही व्यक्ति नहीं करता, किन्तु उसके उत्तराधिकारी तद्वंशीय पुत्रादि करते हैं। अतः कुल की अपेक्षा से सहस्रसंवत्सर सत्र का विधान है न कि एक व्यक्ति की अपेक्षा से। ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्य मानते हैं।

सहस्रसंवत्सरसाध्यसत्र के सौ वर्ष के आयु वाले मनुष्य द्वारा साध्य न होने से मनुष्य के लिये उसका विधान करना अनुचित है अतः यहां पर संवत्सरशब्द को सौराब्दपरक न मानकर लक्षणावृत्ति से चन्द्राब्द, नक्षत्राब्द व पार्थिवाब्द में से अन्यतमपरक स्वीकार कर लेना चाहिये। ऐसा लावुकायन आचार्य का मत है।

उनका तात्पर्य यह है कि संवत्सर का प्रयोग सौर संवत्सर (३६०) दिन की तरह सावनाब्द, चान्द्राब्द (३०) नाक्षत्राब्द (२८ दिन) व पार्थिवाब्द (दिन रात) तथा दिन में भी होता है। जैसे 'यो वै मासः स संवत्सरः' इस श्रुति में मास को संवत्सर बतलाया गया है। 'द्वादश वै रात्रयः संवत्सरस्य प्रतिमा' इस श्रुति में द्वादशाह के लिये संवत्सर शब्द का प्रयोग हुआ है, और 'आदित्यो वा सर्व ऋतवः, स यदेवोदेत्यथ वसन्तो, यदा संगवोऽथ ग्रीष्मो, यदा माध्यन्दिनोऽथ वर्षाः, यदाऽपराह्णोऽथ शरत्, यदाऽस्तमेत्यथ हेमन्तशिशिरौ' इस श्रुति में दिन में ही कालभेद से ६ ऋतुओं की स्थिति बतलाकर दिन को ही षड्ऋतुमय संवत्सर सिद्ध किया है। इस तरह संवत्सरशब्द अनेकार्थक व अनियतार्थक है। इसके विपरीत सहस्र आदि शब्द एकार्थक व नियतार्थक हैं। सहस्रसंवत्सरसाध्यसत्र में दोनों शब्दों के वाच्य अर्थ की अनुपपत्ति होने से एक को लाक्षणिक (अन्यार्थक) मानना पड़ेगा। वहां नियतार्थ सहस्रादि शब्दों को लाक्षणिक मानने की अपेक्षा अनियतार्थक अतएव निचाली संवत्सरशब्द को ही लाक्षणिक मानना उचित है। अतः संवत्सरशब्द को यहां सौरसंवत्सरपरक न मान कर चान्द्रसंवत्सरपरक अथवा पार्थिवसंवत्सरपरक अथवा नाक्षत्रसंवत्सरपरक मान कर सहस्र-संवत्सरसाध्यसत्र की मनुष्य की द्वारा निष्पत्ति मान लेनी चाहिये, ऐसा लावुकायन आचार्य का अभि है।

किन्तु उपर्युक्त रीति से संवत्सर शब्द को लक्षणावृत्ति से अन्यार्थक मानने पर भी चान्द्रादि संवत्सरों में से किस अर्थ का बोधक माना जाय यह संशय बना रहता है। प्रकरण द्वारा भी इसका निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि यहां एक ही अर्थ प्रकरणसिद्ध नहीं है, किन्तु मास, द्वादशाह व एकाह सभी अर्थ प्राकरणिक हैं जैसा कि ऊपर प्रदर्शित किया जा चुका है। इस शंका का समाधान करते हुए जैमिनि ने कहा है कि संवत्सर शब्द को यहां दिन अर्थात् पार्थिव संवत्सर का बोधक मानना चाहिये, क्योंकि वह प्राकरणिक भी है और इस सत्र में क्रियमाण त्रिवृत्, पञ्चदश आदि स्तोमों में त्रिवृत आदि शब्द दिन के ही बोधक हैं, तथा दिनपरक मानने से ही यह सत्र मनुष्यों द्वारा आसानी से किया भी जा सकता है। अतः उनने अन्त में 'अहानि वाऽभिसंख्यत्वात्' इस सूत्र के द्वारा संवत्सर शब्द को दिनपरक अर्थात् पार्थिव संवत्सरपरक ही स्वीकार किया है। और इस तरह सहस्रवर्षसाध्यसत्र में शतायु पुरुषों का अधिकार बन जाता है।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि मनुष्यों की आयु १०० वर्ष नहीं हो सकती अन्यथा जैमिनिकृत उपर्युक्त शंका समाधान व्यर्थ होते। अतः जहां पर वसिष्ठादि ऋषियों के लिये हजारों वर्ष तपश्चर्या का वर्णन मिलता है वहां सम्वत्सर शब्द को दिन का बोधक ही मानना चाहिये। ऐसे स्थलों में संवत्सर शब्द को दिनपरक मानने से 'षष्टिवर्षसहस्राणि चचार परमं तपः' इत्यादि वाक्यों में ८॥ वर्ष का तपस्याकाल सिद्ध होता है क्योंकि 'षष्टिवर्षसहस्राणि' शब्द बहुवचनान्त है और बहुवचनान्त में सर्वप्रथम त्रित्व (तीन) संख्या आती है, अतः प्रथम प्राप्त होने से उसे ही स्वीकार कर लिया जाता है। इस तरह षष्टिवर्षसहस्र शब्द का अर्थ ३०६० दिन सिद्ध होता है और ३०६० दिन में ३६० का भाग देने से ठीक साढे+आठ वर्ष (८ वर्ष ६ मास) तपस्याकाल सिद्ध हो जाता है। इसी तरह "दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च" इस रामायणवाक्य में उपर्युक्त रीति से संवत्सर शब्द को अहःपरक मानने से रामराज्यकाल ३० वर्ष ६ मास २० दिन सिद्ध होता है, क्योंकि कुल मिलाकर ११००० वर्ष राज्यभोगकाल रामायण में रामका बतलाया गया है और वहां वर्ष शब्दके दिनका वाचक होने से

\+ ३६०)३०६०(८ वर्ष
२८८०
———
३०) १८०(६ मास
१८०
———
×

११००० दिन राज्यकाल सिद्ध होता है, और =११००० दिन के ३० वर्ष ६ मास २० दिन होते हैं किन्तु षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक' इस रामायणवाक्य में वर्ष शब्द अहोरात्र का वाचक है और अहोरात्र पार्थिव संवत्सर है अतः इसे में भी वर्षशब्द का प्रयोग बन ही सकता है। यहां षष्टि शब्द पृथक् है और वर्षसहस्र शब्द पृथक् है और षष्टि शब्द वर्षसहस्रशब्द का विशेषण है। वर्षसहस्र का अर्थ १ हजार वर्ष है और षष्टि (६०) को उसका विशेषण मानकर १००० से साठ को गुणा करने पर ६०००० वर्ष का काल सिद्ध होता है। वर्ष शब्द यहां अहोरात्र का वाचक है। अतः विश्वामित्र जब रामचन्द्र को यज्ञरक्षार्थ ले गये थे उस समय कुल मिलाकर ६०००० हजार अहोरात्र दशरथ की आयु सिद्ध होती है। इनमें तीस हजार दिन और तीस हजार रात हैं। अतः कुल ३०००० दिन ही दशरथ की आयु सिद्ध होती है, और * ३००००दिन के केवल ८३वर्ष होते हैं इस तरह उस समय दशरथ की आयु ८३ वर्ष ४ मास की थी, यह उपर्युक्त रामायणवाक्य का अर्थ है। पार्थिव संवत्सर दिन रात का होता है क्योंकि पृथ्वी एक दिन रात में ही सम्पूर्ण नक्षत्रचक्र का भोग कर लेती है और सम्पूर्ण नक्षत्र क्र का भोग ही सम्वत्सर शब्द का अर्थ है। इसीलिये वृहस्पतिसंवत्सर, सूर्यसम्वत्सर व पार्थिवसंवत्सर आदि परस्पर में विभिन्न परिमाण के हैं,क्योंकि उनका सम्पूर्ण नक्षत्रचक्र भोगकाल परस्पर में विभिन्न है। जैसे सूर्य उसी नक्षत्रचक्र का भोग ३६० दिनों में करता है, चन्द्रमा २८ दिनों में और पृथिवी दिन रात में। इस तरह पार्थिव संवत्सर दिन रात का है, परन्तु कहीं दिन रात को मिलाकर अर्थात् एक मानकर उनका निर्देश किया गया है—"जैसे 'षष्टिवर्षसहस्राणि चचार परमं तपः' इस वाक्य में। और कहीं पर उनको पृथक् पृथक् मानकर निर्देश किया जाता है— जैसे षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक' इस वचन में। अतः यहां पर वर्षपरिगणन करते समय हमें उनको आधा करना पड़ता है. क्योंकि वह संख्या दिन रात दोनों को मिला कर होती है, और पार्थिव संवत्सर चूंकि दिन रात का एक होता है अतः उस संख्या का आधा करना आवश्यक है।

= ३६०)११०००(३० वर्ष
  १०८०
  ———
३०) २०० (६ मास
  १८०
  ———
  २० दिन

* ३६०)३००००(८३ वर्ष
  २८८०
  ———
  १२००
  १०८०
  ———
३०) १२० (४मास
  १२०
  ———
  ×

इस तरह वर्ष शब्द अनेकार्थक है। पौराणिकों ने भी उसका भिन्न २ अर्थों में प्रयोग किया है अतः पुराणों का अर्थ करते समय उसका ठीक विचार कर जहां जो संगत हो उसी अर्थ का बोधक वर्षादि शब्दों को मानना चाहिये। इस तरह मनुष्य महर्षियों का जहां हजारों वर्ष का तपस्याकाल बतलाया गया है उस जगह पार्थिव संवत्सरका ग्रहण करना चाहिये। और यदि सौरसंवत्सर मानकर ही इन वचनों का समन्वय करना अभीष्ट हो तो असल्लक्षण नित्य प्राण ऋषियों का ग्रहण करना चाहिये न कि तत्प्राणद्रष्टा मनुष्य ऋषियों का। यही निष्कर्ष आयुर्दायचिन्ताधिकार में बतलाया गया है।

८—व्यक्तिबहुत्वाधिकार।

पूर्व अधिकरण में मनुष्यविध ऋषियों की आयु १०० वर्ष की है यह निर्णय कर दिया गया है। किन्तु ऐसा मानने पर तीन या चार पीढ़ियों के व्यवधान वाले दिलीप और राम के काल में वसिष्ठ के अस्तित्व को बतलाने वाले पुराणादि शास्त्रों का विरोध होता है, क्योंकि १०० वर्ष की आयु वाला वसिष्ठ व्यक्ति इतने समय तक कैसे जीवित रह सकता है, इसी शंका का समाधान इस अधिकरण में किया गया है साथ ही इस अधिकार में गोत्र शब्द के अर्थों का तथा विभिन्न मतों का प्रदर्शन करते हुये 'एको गोत्रे' इस पाणिनीय सूत्र के अर्थ का भी विचार किया गया है। वसिष्ठ भारद्वाज आदि शब्द एक व्यक्ति के बोधक नहीं किन्तु तद्गोत्रीय नाना व्यक्तियों के बोधक हैं इसका भी निर्णय यहां किया गया है।

तत्तत् असत् रूप वसिष्ठादि प्राणों के द्रष्टा ऋषियों ने जिस प्राण का साक्षात्कार किया और उसकी अपनी आत्मा में आराधना द्वारा प्रतिष्ठा की उस प्राण का पातक, उपपातक, महापातकादिसंज्ञक पातकों से तथा वंश के न चलने से पतन हो जाता है, किन्तु इन दोनों कारणों के न होने पर उसका पुत्रपौत्रादिकों में सन्तनन होता रहता है। मूलभूत प्राण का यह पुत्रपौत्रादिकों में सन्तनन ही सन्तान व अपत्य शब्द से व्यवहृत है। वह अपत्य दो प्रकार का है अव्यवहित (अन्तर) तथा व्यवहित (अन्तर्हित)। पुत्र मूलपुरुषका अनन्तरापत्य होता है, और आगे के पौत्रादि सब मूलपुरुष के अन्तर्हितापत्य होते हैं। इन अन्तर्हितापत्यों में ही गोत्रशब्द का प्रयोग होता है पिता व पुत्र में नहीं। क्योंकि—"त्रिः सन्तनोति पितरं पुत्रं पौत्रम्" इस श्रुति द्वारा तथा "अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्" इस व्याकरणस्मृति द्वारा पिता व पुत्रको छोड़ कर पौत्रादि में ही गोत्रशब्द का व्यवहार बतलाया गया है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिये कि पिता व पुत्र गोत्रबहिर्भूत है, वे भी गोत्रान्तर्गत है, किन्तु गोत्रप्रत्यय का प्रयोग उनमें नहीं होता। उपर्युक्त श्रुति व स्मृति द्वारा तृतीय व्यक्ति से लेकर अग्रिम सभी व्यक्तियों में समान रूप से गोत्रापत्यता के होने से गोत्रापत्यता की विवक्षा करने

पर एक ही अपत्यार्थक प्रत्यय होता है, दो व इससे अधिक नहीं क्योंकि व्यक्तियोंका भेद होने पर भी सभी व्यक्तियों में गोत्रापत्यता समान है और सभी वसिष्ठ के समानरूप से अपत्य हैं। अतः इस अर्थ को बतलाने के लिए जब सभी में एक अपत्य प्रत्यय से काम चल सकता है तब उनमें से किसी भी अपत्य के लिये चाहे वह चौथा हो बीसवां हो, एक से अतिरिक्त प्रत्यय करने की आवश्यकता क्या है। इसी अभिप्राय से पाणिनि ने 'एको गोत्रे' सूत्र कहा है। अर्थात् गर्ग का अपत्य चाहे तीसरा चौथा बीसवां या १०० वां क्यों न हो सभी में एक ही अपत्य प्रत्यय प्रयोग होता है, और सब गार्ग्य ही कहलाते हैं।

कोई ऐसा कहते हैं कि वसिष्ठप्राणसम्पन्न व्यक्ति के पुत्रपौत्रादि सभी में वसिष्ठत्व, वसिष्ठापत्यत्व व वसिष्ठजनकत्व यह तीनों प्रकार का व्यवहार होता है क्योंकि 'आत्मा वै जायते पुत्रः" यह श्रुति स्वयं की ही पुत्ररूप से उत्पत्ति बतला रही है। इस तरह वसिष्ठ के सभी अपत्य वसिष्ठरूप भी हैं अतः वसिष्ठ कहला सकते हैं और वे मूल वसिष्ठ की सन्तान हैं अतः वसिष्ठापत्य भी कहलाते हैं तथा वे उत्तर उत्तर वसिष्ठ को उत्पन्न करते है अतः वसिष्ठजनक भी हैं।

इनमें मूल पुरुष प्रथम वसिष्ठ, वसिष्ठ ही कहलाता है क्योंकि वह किसी का अपत्य नहीं शेष सभी में वसिष्ठ व वसिष्ठापत्य दोनों व्यवहार होते हैं। क्योंकि उन सब में वसिष्ठप्राण अनुस्यूत हैं, अतः उनमें वसिष्ठव्यवहार होता है और वसिष्ठप्राण से अनुस्यूत प्रथम वसिष्ठ के अपत्य वे हैं अतः वासिष्ठ व्यवहार भी उनमें होता है। किन्तु गोत्र के बहु-व्यक्तिविषयक होने से जहां बहुवचन द्वारा गोत्र अर्थ की अभिव्यक्ति होजाती है वहां गोत्रार्थक अपत्य प्रत्यय की आवश्यकता न होने से वह नहीं किया जाता और शेष में गोत्रार्थ की अभि-व्यक्ति के लिए गोत्रार्थक प्रत्यय करना पड़ता है। इसी अभिप्राय से भगवान् पाणिनि ने कहा है 'एको गोत्रे' अर्थात् एकत्वविशिष्ट में अपत्य प्रत्यय का प्रयोग होता है बहुत्वविशिष्ट में नहीं। यहां एक शब्द द्वित्व का भी बोधक है अतः द्वित्वविशिष्ट में भी अपत्य प्रत्यय होता है। किन्तु यह नियम व्यवहार द्वारा व्यवस्थित है, अतः अत्रि, भृगु आदि में बहुत्वविशिष्ट में अपत्य प्रत्यय नहीं होता और एकत्वद्वित्वादिविशिष्ट में होता है। कुपीतकादि शब्दों में बहुत्व विशिष्ट में अपत्यप्रत्यय होता भी है और नहीं भी। और गोपवनादि शब्दों में बहुत्वविशिष्ट में भी अपत्य प्रत्ययका प्रयोग होता ही है। किस जगह बहुत्व विवक्षा में अपत्य प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता, कहां विकल्प से होता है, और कहां नित्य होता है इसका निर्णय अभियुक्त-प्रयोगानुसार करना चाहिये।

कितने ही प्रकारान्तर से "एको गोत्रे" की व्याख्या करते हैं। उनका कथन है कि वसिष्ठ का चौथा गोत्रापत्य जो कि वसिष्ठ कहलाता है उसके अपत्य पांचवें वसिष्ठ में फिर

अनन्तरापत्यार्थक प्रत्यय हो जाना चाहिये और उसके लिए वासिष्ठि शब्द का प्रयोग होना चाहिये। क्योंकि गोत्र अर्थ में चाहे एक ही प्रत्यय हो किन्तु गोत्रप्रत्ययान्त वशिष्ठ शब्द से अनन्तरापत्य अर्थ में प्रत्यय होने में क्या बाधा है। क्योंकि पांचवां चतुर्थ का अनन्तरापत्य ही है। अतः इस दोष का परिहार करने के लिए "एको गोत्रे" सूत्र पाणिनि ने बनाया है। इसका यह अर्थ है कि गोत्रापत्य में अपत्यत्व की विवक्षा में एक अर्थात् मूलभूत प्रथम पुरुष से ही अपत्यार्थक प्रत्यय होता है और शेष द्वितीयादि से नहीं और मूल पुरुष की अपेक्षा से पांचवा गोत्र ही है अनन्तरापत्य नहीं, अतः अनन्तरापत्य में उससे प्रत्यय नहीं हो सकता। अतः चतुर्थ, पञ्चम, त्रिंश, और पञ्चत्रिंश आदि सभी के लिये वासिष्ठ का ही प्रयोग होता है न कि वासिष्ठि शब्द का।

दूसरे ऐसा कहते हैं कि 'एको गोत्रे" सूत्र तीन प्रकार से प्रत्यय का नियम करता है। गोत्रप्रत्ययान्त से दूसरा गोत्रप्रत्यय नहीं होता। गोत्रप्रत्ययान्त से अनन्तरापत्य प्रत्यय नहीं होता, एवं अनन्तरापत्यप्रत्ययान्त से दूसरा अनन्तरापत्यप्रत्यय नहीं होता किन्तु अनन्तरापत्यप्रत्ययान्त से गोत्रापत्य अर्थ में प्रत्यय हो सकता है। जैसे रहुगण के पुत्र महर्षि का नाम गौतम था। वे मन्त्रकर्ता ऋषि थे उनके पुत्र का नाम नोधा है और वे गौतम हैं। उनके गोत्र में कोई साठवां गोत्रापत्य उपवेश नामक हुआ है। उपवेश का अनन्तरापत्य अरुण गौतम है और अरुण का अनन्तरापत्य व उपवेश का गोत्रापत्य उद्दालक आरुणि है उनके लिये औपवेश्य का प्रयोग हुआ है यहां अनन्तरापत्य प्रत्ययान्त औपवेशि से गोत्रापत्यप्रत्यय यञ् किया गया है। इसी तरह उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु के लिए आरुणेय शब्द का प्रयोग हुआ है। यहां भी अरुण शब्द से अनन्तरापत्यप्रत्यय करके आरुणि बनाया गया है और उस अनन्तरापत्यप्रत्ययान्त आरुणि शब्द से गोत्रापत्य अर्थ में प्रत्यय करके आरुणेय शब्द का प्रयोग श्वेतकेतु के लिये हुआ है। अतः यह सिद्ध होजाता है कि अनन्तरापत्यप्रत्ययान्त शब्द से गोत्रप्रत्यय होता है।

असर्वलिङ्गा बह्वर्था सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या ।
आकृतिग्रहणा जातिर्गोत्रं च चरणानि च ॥

इस वचन के अनुसार आकृतिमूलक, गोत्रमूलक, चरणमूलक तथा असर्वलिङ्गत्वविशिष्ट सकृदाख्यातनिर्ग्राह्यत्वमूलक जातिव्यवहार लोक में देखा जाता है। वहां मूल पुरुष से आरब्ध व्यक्तिपरम्परा में गोत्र शब्द का व्यवहार है और वसिष्ठादि शब्द जाति में ही रूढ हैं न कि व्यक्ति में। व्यक्ति में इनका प्रयोग उसी तरह लाक्षणिक है जैसे कि जातिमें रूढ गवादि शब्दों का "गामानय" इत्यादि स्थलों में जाति का आनयन न बनने से गोव्यक्ति में प्रयोग

है। अन्तर इतना ही है कि आकृतिग्राह्य लौकिक जातिबोधक गवादि शब्दों का प्रयोग जैसे मूल व्यक्ति में होता है वैसे ही उसके अपत्य संतान में भी। वहां संतान का बोध करने के लिये अपत्यबोधक किसी भी प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता। किन्तु इन शास्त्रीय जातिबोधक वसिष्ठादि शब्दों से अपत्यादि का बोध करने के लिये अपत्यबोधकप्रत्ययान्त का भी प्रयोग होता है और केवल वसिष्ठादि शब्दों का भी। कारण इसका यही है कि गो शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त गोप्राण है वह उत्पत्तिशिष्ट है। अर्थात् गोव्यक्ति की उत्पत्ति के साथ ही उसमें आजाता है अतः उसकी कोई मूल प्रकृति नहीं है जिससे वह अन्य उत्तर व्यक्तियों में आता हो और जिससे अपत्यप्रत्यय किया जाय। और वशिष्ठ शब्द का प्रवृत्ति निमित्त वसिष्ठ प्राण उत्पत्ति के बाद आता है। अतः जिस मूल पुरुष से वह गुण उत्पत्ति के बाद आता है वह मूल पुरुष प्रकृति है उसी से उस गुण की संक्रान्ति अन्य उत्तर व्यक्तियों में होती है। अतः प्रकृति होने से उस शब्द से अपत्यप्रत्यय बन सकता है।

इस प्रकार गोत्रबोधक वसिष्ठादि शब्दों से अनन्त वसिष्ठों का बोध होता है न कि किसी एक व्यक्ति का। क्योंकि वसिष्ठादि शब्द किसी एक व्यक्ति के बोधक नहीं है, अपि तु गोत्र के बोधक हैं, अतः उनसे वसिष्ठ गोत्र में उत्पन्न होने वाले सभी व्यक्तियों का बोध होना स्वाभाविक है। इसलिये वसिष्ठ आदि शब्दों के गोत्र नाम होने से भिन्न भिन्न काल में वर्तमान भिन्न भिन्न व्यक्तियों को गोत्र नाम की अपेक्षा से वसिष्ठ ही पुराणों व काव्यों में कह दिया है। अतः वहां उन भिन्न भिन्न कालों में एक ही वसिष्ठ व्यक्ति की सत्ता का सन्देह न करना चाहिये। अर्थात् दिलीप के समय भी वसिष्ठ का होना पुराणों व काव्यों में सिद्ध होता है, तथा भगवान् रामचन्द्र के समय में भी। किन्तु उन दोनों के समय में वसिष्ठ व्यक्ति एक नहीं था। अपि तु वे भिन्न भिन्न व्यक्ति थे। फिर भी उन दोनों का गोत्रनाम वसिष्ठ होने से सामान्यतया वसिष्ठ नाम से ही उनको व्यवहृत कर दिया गया है। यह रहस्य ही इस अधिकार में बतलाया गया है।

गोत्रप्रवर्तकाधिकार।

सृष्टिप्रवर्तक व वेदप्रवर्तक ऋषियों का निरूपण पहिले प्रकरणों में किया जा चुका है। अब इस अधिकार में गोत्रप्रवर्तक ऋषियों का निरूपण किया गया है। इस में भी सर्वप्रथम गोत्र क्या वस्तु है इसी का विचार है।

गोत्रपरिभाषा।

गोत्रशब्द के अर्थ में भिन्न भिन्न आचार्यों के भिन्न भिन्न मत हैं। क्रमशः यहां उन का दिग्दर्शन किया जाता है।

विज्ञानेश्वर आदि आचार्य गोत्र को वंशपरम्पराप्रसिद्ध मानते हैं। 'प्रवर ऋषियों से सम्बद्ध ऋषि ही गोत्र कहलाते हैं' यह सत्याषाढ़ आदि आचार्य स्वीकार करते हैं। 'भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, कश्यप, वसिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य ये सातों ऋषि अपने अगत्यों के अर्थात् अपने से उत्पन्न होने वाले भावी जगत्के गोत्र हैं' कितने ही ऐसा मानते हैं। इस मतमें केवल सात ही गोत्र ही सिद्ध होते हैं इससे अधिक नहीं। कितने ही अभियुक्त ऐसा मानते हैं कि उपर्युक्त सातों गोत्र नहीं हैं, किन्तु उनकी सन्तान गोत्र है। इस मत में असंख्य गोत्र सिद्ध होते हैं। क्योंकि सातों ऋषियों की सन्तान अनन्त हैं। इस मत में भी दो अवान्तर भेद हैं—जैसे कितने ही यह स्वीकार करते हैं कि सप्तर्षियों के अपत्य सातों ऋषियों के तथा अपने से अनन्तर भावी सन्तान दोनों के गोत्र हैं। और कुछ का ऐसा मत है कि सप्तर्षियों की सन्तान अनन्तर भावी सन्तान के प्रति ही गोत्र है न कि स्वपूर्वभावी सप्तर्षियों के प्रति।

इसी तरह जमदग्नि, गोतम, भरद्वाज, अत्रि, कश्यप, वासिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य ये आठ ऋषि अपनी सन्तानों के गोत्र हैं ऐसा कितने ही मानते हैं। और बोधायनादि आचार्य इससे विपरीत इन आठों ऋषियों की सन्तान ही गोत्र कहलाती है ऐसा स्वीकार करते हैं। किन्तु बोधायन के मत में केवल भृगु और केवल अङ्गिरा के सप्तर्षियों की सन्तान न होने से केवल भार्गव व केवल आङ्गिरस गोत्र गणना में नहीं आते अपितु प्रवरों की गणना में आते हैं, और इसी लिये इनके गोत्र न होने से—

एक एव ऋषिर्यावत् प्रवरेष्वनुवर्तते।
तावत् समानगोत्रत्वमृते भृग्वङ्गिरोगणात्॥

इस बोधायनवचन में गोत्रशब्द को प्रवरपरक स्वीकार करना पड़ता है, क्योंकि गोत्रपरक मानने पर उपर्युक्त रीति से केवल भृगु व केवल अङ्गिरा के गोत्र न होने से 'ऋते भृग्वङ्गिरोगणात्' इस वचन के द्वारा उनके गोत्रत्व का निषेध करना व्यर्थ हो जायगा। अतः वहां गोत्र का प्रवर अर्थ ही स्वीकार करना चाहिये। और वहां प्रकरण भी प्रवर का ही है न कि गोत्र का। अतः उस बोधायन वाक्य का यह अर्थ है कि भृगु और अङ्गिरा को छोड़ कर समान प्रवरों में ही विवाह नहीं होता। और 'प्रवरान् व्याख्यास्यामः। तैर्गोत्राणि' इस सत्याषाढ़ के मत के अनुसार केवल भृगु और केवल अङ्गिरा भी गोत्र कहलाते हैं क्योंकि प्रवरर्षिसम्बद्ध ऋषि ही गोत्र कहलाते हैं और उनका भी प्रवरऋषियों से सम्बन्ध है। इस तरह गोत्र की व्याख्या में नाना मत हैं।

वस्तुतः व्यवहित अर्थात् मूलपुरुष से तृतीयादि अपत्यों में सन्निविष्ट मूलभूत ऋषि का अंश ही गोत्र कहलाता है जैसे पितृदेहस्थ सोमभागमय सहःपिण्डों की उसकी सन्तानों में

अनुवृत्ति होती रहती है उसी प्रकार भृगु,अङ्गिरा,अत्रि आदि ऋषिप्राणों की भी उत्तरोत्तरवर्ती सन्तान में अनुवृत्ति होती रहती है। सन्तानों में अनुवर्तमान ऋषि अंश ही गोत्र कहलाता है।

इस तरह भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, वसिष्ठ, अगस्त्य, कश्यप व विश्वामित्र ये सात ही मूलगोत्र पहिले थे। इन्हीं सातों गोत्रों के अन्तर्गत जगत् के सभी ब्राह्मण हैं।

इनमें भार्गव गोत्र जामदग्न्य (भार्गव) व केवल भार्गव भेद से २ शाखा वाला है। और आङ्गिरस गोत्र गौतम, भारद्वाज व केवल भेद से ३ शाखा वाला है। इस तरह जामदग्न्य, भार्गव गौतम,भारद्वाज, आङ्गिरस व आत्रेय, वासिष्ठ, आगस्त्य, काश्यप और वैश्वामित्र ये दश गोत्र होते हैं।

इनमें क्रमसे जामदग्न्य के २ भेद, भार्गव के ५, गौतम के ७, भारद्वाज के ४, आङ्गिरस के ६, आत्रेय के ४, वासिष्ठ के ४, आगस्त्य के ४, काश्यप के ३ और वैश्वामित्र के १० भेद होने से कुल ४६ गोत्र हैं ऐसा बौधायन आचार्य का मत है।

कितने ही ८१ गोत्र मानते हैं उनके मत में जामदग्न्य के २, भार्गव के १०, गौतम के १०, भारद्वाज के ४, आङ्गिरस के ८, आत्रेय के ७, वासिष्ठ के ५, आगस्त्य के १०, काश्यप के ५, वैश्वामित्र के ११ भेद हैं।

आपस्तम्ब ने १०० से भी अधिक गोत्र बतलाये हैं। अवान्तर भेदों को लेकर ये गोत्र बहुत अधिक हो जाते हैं। इसी लिये देशभेद से आजकल गोत्रसंख्या भिन्न भिन्न दिखाई देती है।

उपर्युक्त ४६ व ८१ भेद शुद्ध अर्थात् एक गोत्रीय वंश के हैं। द्विगोत्रीय वंश जिसे द्व्यामुष्यायण कहा जाता है इससे विभिन्न है, उस द्व्यामुष्यायण के पहिले दो भेद हैं, पूर्वसिद्ध व समयसाध्य। पूर्वसिद्ध शौनक, देवरात, वामरथ्य, धनञ्जय, जातूकर्ण्य, कात्यायन कापिल लौगाक्षि, संकृति व शौङ्गशैशिरि भेद से १० प्रकार का है। इनमें द्विगोत्रता यही है कि पहिले ये भिन्न गोत्र में पैदा हुए हैं या दत्तक पुत्र बने हैं और उसके बाद वे दूसरे गोत्र में दत्तक स्वरूप से या अन्य प्रकार से प्रविष्ट हो गये हैं। विवाहप्रकरण में सगोत्रों को परस्पर विवाह का निषेध होने से इन द्विगोत्रीय वंशों में उभय गोत्र को छोड़ कर ही विवाह करना पड़ता है।

इन उपर्युक्त द्विगोत्रीय १० गोत्रों में प्रारम्भ के ७ लोक में अधिक प्रसिद्ध नहीं है; किन्तु अन्त के तीन का लोक में बहुत प्रचार है। इन सब की द्विगोत्रता स्मृतियों व पुराणादि शास्त्रों

में वर्णित है। इसके विपरीत जिनकी द्विगोत्रता का शास्त्रों में विशेष तौर से (नामनिर्देश से) उल्लेख नहीं है वे पुत्रिकापुत्र, कृत्रिम, दत्तक, स्वयंदत्त, क्षेत्रज आदि भी द्विगोत्र हैं। ये ही समयसाध्य द्व्यामुष्यायण (द्विगोत्र) कहलाते हैं। इनकी द्विगोत्रता श्राद्ध व विवाहादि भेद से व्यवस्थित है। श्राद्धादि में इनमें से वे ही द्विगोत्र कहलाते हैं जिनका जातकर्मादि संस्कार पिता (जनक) के द्वारा किया गया हो। और केवल उपनयन संस्कार प्रतिग्रहीता के द्वारा किया गया हो अथवा उपनयन भी पिता के द्वारा किया हो। और जिनके जातकर्मादि संस्कार प्रतिग्रहीता (गोद लेने वाले) के द्वारा ही सम्पन्न हुआ हो वे प्रतिग्रहीता के गोत्र के ही कहलाते हैं, पितृगोत्र उनका नहीं माना जाता। यह व्यवस्था इनकी श्राद्धादि कार्यों में मानी जाती है। और विवाह में चाहे जातकर्मादि संस्कार पिता के द्वारा सम्पन्न किये गये हों चाहे प्रतिग्रहीता के द्वारा, ये द्विगोत्र ही माने जाते हैं। और दोनों गोत्रों को छोड़ कर ही विवाह करना पड़ता है। उपर्युक्त सभी गोत्र ब्राह्मणों के हैं। ब्राह्मणेतरों के गोत्र प्रायः नियत ही है। क्षत्रियों का सभी का मानव गोत्र है। वैश्यों का भालन्दन व शूद्रों काश्यप गोत्र है। जिनके गोत्र का पता नहीं वे सब जामदग्न्यगोत्रीय होते हैं ऐसा शास्त्र का निर्णय है।

प्रवर।

एक गोत्र में अवान्तर भेद के सम्पादक अत एव गोत्रव्यावर्तक ऋषि प्रवर कहलाते हैं। एक एक गोत्र में पांच, तीन, दो या एक प्रवर होते हैं। उपर्युक्त गोत्रों में पांच प्रवरवाले गोत्र ९ तीन प्रवर वाले ६८ और दो प्रवर वाले ६ गोत्र हैं। उनमें ५ प्रवर वाले कौन से गोत्र हैं तथा तीन प्रवर वाले व दो प्रवरवाले गोत्र कौन से हैं इसका निर्णय मूल पुस्तक से करना चाहिये।

इसके बाद धनञ्जय-धर्मप्रदीप के अनुसार किस गोत्र में कौन कौन से व कितने प्रवर हैं उसका उल्लेख किया है।

आगे बतलाया है कि यह उपर्युक्त मतभेद दाक्षिणात्यों के ग्रन्थों के अनुसार बतला दिया है। वस्तुतः इन मतभेदों का धर्मशास्त्र में कोई उपयोग नहीं है। क्योंकि मतभेद के कारण धर्म में विरोध मालूम देता है और विरोधी धम धर्म नहीं होता किन्तु अविरोधी धर्म ही धर्म होता है जैसा कि भगवान् ने कहा है—

धर्मं यो बाधते धर्मो न धर्मः परिकीर्तितः।
अविरोधीति यो धर्मः स धर्मः सद्भिरुच्यते॥

अन्त में वर्तमान समय में ब्राह्मणसमाज में उपलब्ध २८ गोत्रों का व उनके प्रवरों का पृथक् उल्लेख किया है तथा उनकी शाखाओं तथा ग्रन्थों का भी निर्देश किया है। गोत्र व प्रवर का यही धर्मशास्त्रानुसारी रहस्य इस अधिकार में बतलाया है।

उपर्युक्त रीति से 'यज्ञमधुसूदनान्तर्गत इस आधिदैविकाध्याय' ग्रन्थ में यज्ञोपयोगी देवताओं, पितरों व ऋषियों का निरूपण किया गया है। इन तत्वों का ग्रन्थके अनुसार सामान्य दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न इस भूमिका में किया है। सामान्य निरूपण करते हुए भी कहीं कहीं विस्तार व अनुवाद सा होगया है, किन्तु यह सब प्रयास विषय की स्पष्टता के लिये किया गया है। अतः क्षम्य है। विषय की गहनता तथा मेरी अनभिज्ञता के कारण जो त्रुटियां इस भूमिकालेखन में रह गयी हैं उनके लिए पाठक मुझे क्षमा करेंगे तथा उन्हें बतलाने की कृपा करेंगे जिससे उनका संशोधन किया जासके॥

जयपुर
१५-१०-५०

स्वामी सुरजनदास एम्. ए.
साहित्य, व्याकरण, वेदान्त, सांख्ययोगाचार्य।



अथोत्तमेस्थाने समाम्नाता देवगणा यथा सूर्य्यः। नासत्यदस्रावश्विनौ त्वष्टा, सविता, भगः, पूषा, विष्णुः, विश्वानरः, वरुणः. केशी, वृषाकपिः, यमः, अज एकपात्, पृथ्वी, समुद्रः, दध्यङ्, अथर्वा, मनुः—इति सूक्तादि भाजो देवाः ॥ १८ ॥ आदित्याः, सप्तऋषयः देवाः, विश्वेदेवाः साध्या, वसवः, वाजिनः देवपत्न्यः। इति गण देवता ॥ ८ ॥ उषाः। सूर्य्या। सैव सावित्री संज्ञाच, वृषाकपायो। सरण्यूः। इति स्त्री देवताः ॥ ४ ॥ सर्वाश्चैता उत्तमस्थाना देवताः सूर्य्य एव ॥

तस्यै तस्य सूर्य्यस्य द्वादशादित्या अवान्तरदेवाः भवन्ति। ते च द्वादशमासाभिमानिनोऽग्रय इति निविद्युच्यते। इन्द्रः, धाता, मित्रः, वरुणः, अर्य्यमा, अंशुः। त्वष्टा। भगः। पूषा। सविता। विवस्वान्। विष्णुः। इत्यादित्या द्वादशेति पौराणिकाः ॥

सविता, भगः, सूर्य्यः, पूषा, विष्णुः,
विश्वानरः, वरुणः, केशी, वृषाकपिः,
यमः, अज एकपात्, समुद्रः। इत्येते द्वादशादित्या इति साम अमी ॥

ब्रह्म प्रजापतिः अग्नि गृहपतिः। सोमो वनस्पतिः। रूद्रो वैन्द्रों वा वास्तोस्पतिः। इन्द्रो दिवस्पति सुरपतिः। सोमोब्रह्मणस्पतिः। ब्रह्म बृहस्पतिः। प्रजापतिः। वाचस्पतिः। सोमऋताग्निर्वा चेत्रस्यपतिः। वरुणो अपांपति यादसांपतिश्च। एव मेतेदेवा विशेषणार्था अन्यत्र निरूपयिष्यन्ते ॥

अथाहुः। या एतास्तिस्रोदेव्यो भारतीडा सरस्वत्यो नामाख्याताः सैषा वागेवैकाद्रष्टव्या। वागेवेडाभूस्थाना, सरस्वत्यन्तरिक्षस्थाना, भारती द्युस्थानेति स्थानभेदात् तिस्रसंज्ञा भजते। अथापि सा साविधाभूयोऽप्यन्यान्यं विधां भजते यथा—नद्यः, आपः, औषधयः इत्येताः भूक भाजस्तिस्रः। अरण्यानी, रात्री, श्रद्धा, उषा, सरस्वती, पृथ्वी, अद्याः इत्येताः ऋग्भाजः सप्तः। अग्नायी सैकानिपातभाक्। ता एकादशैताः प्रथमस्थाना इडानाम ॥ १ ॥

अदितिः, वाक्, सरस्वती—इत्येता सूक्तभाजस्तिस्रः। दुर्गागौरीति वा ऋगभागेका। यमी, इन्द्राणी, सरमा, रोमशा, उर्वशी, उषा, सिनीवाली, राका, अनुमतिः, कुहूः, गौः, धेनुः, अघ्न्या, पथ्यास्वस्तिः, रोदसी, देवेपत्न्यः इला, पृथिवी—इत्येतानैपातिक्योऽष्टादशः ॥ ता द्वाविंशतिरेता मध्यमस्थानाः सरस्वतीनाम ॥ तत्र सरस्वत्यानदीवन्निगमाः सप्तधा भवन्ति। तदन्ये वाग् वन्निगमा इत्यपि बोध्यम् ॥ २ ॥

उषाः, सूर्य्या—इति सूक्तभाजौ द्वे वृषाकपायी सरण्यूः—इति ऋग्भाजौ द्वे। द्यौः, पृथिवी—इति निपात भाजौ द्वे। ता षडेता उत्तम स्थाना भारतीनाम ॥ ३ ॥ अत्र वदन्ति—

सूर्य्यमेव सतीमेतां गौरी वाचं सरस्वतीम् ।
पश्यामो वैश्वदेवेषु निपाते नैव केवलाः ॥ १ ॥
वृषा कपायी सूर्य्योषाः सूर्य्यस्यैव तु योषितः ।
अमुतोऽर्वाङ् निवर्तन्ते प्रतिलोमा स्तदाश्रयाः ॥ २ ॥
पुरोदयात् तामुसं सूर्य्या मध्यं दिने स्थिते ।
वृषाकपायी सूर्य्यस्य तामेवाहुस्तु निम्रुचिः ॥ ३ ॥
भारतीडा सरस्वत्यस्तिस्रः स्त्रीदेवताः स्मृताः ।
अग्निर्वायुश्च सूर्य्यश्च तिस्रः पुंसां देवता मता ॥ ४ ॥
नचैवासां प्रसूतिर्वा विभूतिस्थान जन्मना ।
निर्वक्तुं शक्यमेताभिः कृत्स्नं व्याप्यमिदं जगत् ॥ ५ ॥

ता एता विभूतय एवोक्ताः । अग्निवायुसूर्य्या एव तु तिस्रो देवता अप्यग्निरेव । स सूर्य्यः । सूर्य्याद्ध्येवेदं सर्वमुत्तिष्ठते, सूर्य्ये प्रतितिष्ठति, सूर्य्य एव च सन्तिष्ठते ॥ सूर्य्योऽग्निः सूर्य्यो वायुः । उक्तञ्च—

सूर्य्यप्रसूतावग्नीतु दृष्टौ पार्थिव मध्यमौ—इति ॥

तदिदं प्रथमं देवतानामयनम् ॥

अपर आह । एक एवदेवः—प्राणोनाम । ब्रह्म त्यदित्या चक्षते ॥ अध्यर्द्धोदेवो योऽयं पवते, यदस्मिन्निदं सर्वमध्यार्ध्नोत् तेनायमध्यर्द्धः ॥ द्वौ देवौ—अन्नं च प्राणश्च । प्राणो ह्यत्रादः । अन्नादोऽग्निरन्नं सोम इति ॥ त्रयो देवास्त्रयोलोकाः । एषु हीमे सर्वे देवाः ॥ षड् देवाः—अग्निश्च पृथिवी च वायुरन्वरिक्षं च । आदित्यश्च द्यौश्चेति । एतेह्यं वेदं सर्वम् ॥ त्रयस्त्रिंशद्देवाः—अष्टौ वसवः, एकादशरुद्राः, द्वादशादित्याः इन्द्रश्च प्रजापतिश्चेति ॥ अथवा—इन्द्रश्च वषट्कारश्चेति । अथवा प्रजापतिश्च वषट्कारश्चेति । तत्रेन्द्रः स्तनयित्नु रशनिर्नाम । अथ प्रजापतिर्यज्ञः पशवोनाम । एतावद्वा इदं सर्वमिति ॥ यदाहुः—त्रयश्च त्रीणि शतानि च देवा इति । त्रयश्च त्रीणि सहस्राणि च देवा इति । महिमान एवैषामेते । त्रयस्त्रिंशत्वेव देवाः—वसुरुद्रादित्यप्रजापतिवषट्काराः । तत्र आत्म-सूर्य्य-सोमाः पृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशाश्चेति कुमारस्याग्नेरष्टौ रूपाण्येव ते वसवः । गार्हपत्यो नैरित्योऽष्टौ धिष्ण्या आहवनीय इत्येकादशचयनीया अग्नय एव रुद्राः । अग्न्यादित्यौ, सोम पशू, वायु मृत्यू, द्यावा पृथिव्यौ, मनः संवत्सरौ चेति द्वादशात्मनः प्रजापतेर्द्वादशविभागा एवादित्याः । अथ यैतेषां प्रतिष्ठा स इन्द्रः स प्रजापतिः ॥

अथ प्रजापतेर्द्वादशैतास्तन्वो भवन्ति—अन्नादा, अन्नपत्नी च। भद्रा, कल्याणी च। अनिलया, अपभया च। अनाप्ता, अनाप्या च। अनाधृष्या, अप्रतिधिष्या च। अपूर्वा, अभ्रातृव्या चेति। एतैश्च शब्दैः क्रमेण—अग्निरादित्यश्च, सोमः पशवश्च, वायुर्मृत्युश्च, पृथिवी द्यौश्च, अग्निरादित्यश्च, मनः संवत्सरश्चेत्येतेऽर्था विवक्ष्यन्ते। "एता वाव द्वादश प्रजापतेस्तन्वः। एष कृत्स्नः प्रजापतिः" इतिश्रुतेः। एत एवैते द्वादशादित्या इष्यन्ते। परेतु संवत्सरस्य द्वादशविभागानादित्यानाचक्षते।

यत्रैषां परमाकाष्ठा स वषट्कारः। इतिवेदितव्यम्। ननु—

"अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः तदन्तरेण स वा अन्या देवताः। एते वै यज्ञस्यान्त्ये तन्वौ यदश्च विष्णुश्च"

इत्यैत्तरेय श्रुतावग्न्यादि विष्ण्वन्ता देवा आख्याताः। तेषु च प्रजापतिर्वषट्कारयोः परित्यागादेकत्रिंशदेव देवा यज्ञ सम्बन्धितया लभ्यन्ते—

"इति स्तुतासो असथा रिशा दसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच।
मनोर्देवा यज्ञियासः" ॥

इति मन्त्रेतु यज्ञ सम्बन्धि तथैव त्रयस्त्रिंशद्देवाः—उच्यन्ते। यथा च श्रुत्यो र्विरोधो भवतीति चेन्न। प्रजापत्यग्नोरेकतो विष्णुवषट्कारयो रन्यतः सत्वात् प्रजापति वषट्कारासन्नयो रग्नि विष्ण्वोरपि यज्ञ प्रान्त वर्तित्वा विशेषादैतैतरेयके अन्त्यत्वाम्नानं न विरुध्यते। त्रयस्त्रिंशत्संख्या चोपपद्यते। अत एवाग्निर्वै यज्ञस्यावरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्य इति—राजसूयश्रुतौ तयोरर्धानुगतिः श्रूयते॥ प्रथमतमेतत्। प्रजापतिश्चतुस्त्रिंश इति श्रुते स्त्रयस्त्रिंशद्देवतात्मक यज्ञतनौ प्रजापतेरप्रवेशात् तत्सदंश पठितस्य वषट्कारस्यापि यज्ञतनुत्वं नेष्यते। इति। अथ यज्ञ तनौ तयोरप्रवेशे त्रयस्त्रिंशत् संख्या परिपूर्तिमुमित्रावरुणाभ्यां वा द्यावापृथिवीभ्यां वा अश्विभ्यां वा, वसुरुद्रादित्यातिरिक्ताभ्यां नेयेति दिक् ॥ १ ॥

अथवा त्रय एव देवा अग्नि वायु सूर्य्यानाम स्युः। वसु रुद्रादित्यानामेतद्रूपत्वात्। अथ एक एव देवः प्राणोनाम द्रष्टव्यः अग्नि वायु सूर्य्याणामेतद्रूपत्वात्। तदिदं द्वितीयं देवानामयनम् ॥

अपर आह—अग्निर्वाय्विन्द्र वरुण सोमाः पञ्चदेवाः। तत्राग्निः पृथिवी स्थानः प्राणः। सोमश्चन्द्रस्थानः। इन्द्रः सूर्यस्थानः। वायुर्द्यावा पृथिव्यो रन्तराल स्थानः। वरुणस्त्वण्डान्तं पृथिवीं

चान्तरावस्थितः प्राणः ॥ अध्यामं पुनरिमे—मुखेवाचमग्निः । नसिप्राणमनुवायुः । अक्षणि चक्षुरिविन्द्रः । कर्णे श्रोत्र मनु वरुणः । हृदिमनोऽनुसोमेति ॥

अपर आह—ब्रह्माग्नि वायु सूर्य्य सोमाः पञ्च देवाः तत्र आपः, पृथिवी, अन्तरिक्षं, द्यौ, दिशः—इति पञ्चैते तेषां लोकाः। एषामेते ब्रह्मादयो लोकपालाः। अथ प्रजाः। तत्र सर्वमप्सु प्रतिष्ठितम्। पृथिव्यां वसवश्चाश्वश्चाजश्च । अन्तरिक्षेरुद्राश्च, रुद्रपुत्रामरुतश्च, वयांसिच, मरीचयश्च । दिवि आदित्याश्चाश्मा प्रश्निश्च रश्मयश्च । दिक्षु विश्वेदेवाश्च नक्षत्राणिच विदिशश्चेति । सर्वेचैते प्रजापतिरेव संभवन्ति । तस्मात् प्रजापतिरेकः सर्वा देवता । तदिदं तृतीयं देवानामयनम् ॥

॥ इति देवताधिकारः ॥

———

* अथ पितृनिरूपणाधिकारः *

पितरस्त्रेधा—परा मध्यमा अवराश्च । त इमे नान्दीमुखाः पार्वणाः प्रेताश्च मध्यमावराः। मश्रुमुखत्वात् तदपेक्षया परेषां नान्दीमुखत्वम् । नान्दीमुखाः प्रसन्नमुखाः तेचैते सर्वस्मादस्मादुपरिष्टाद् वर्तन्ते ऊर्ध्वमुखा अमूर्ताश्च । ते त्रिविधाः सोमसदः, बर्हिषदः अग्निष्वाताश्च ॥

सोमदः, सोमवन्तः, सोमपाः, सौम्याः, सुभास्वरा—इत्येकार्थाः । सोमसदो वैराजा इष्यन्ते । बर्हिषदस्त्वा त्रेया मारीचा वा । अग्निष्वाताश्च मारीचाः पौलस्त्या वा । सोमसदः, साध्यानां, बर्हिषदस्तु देवयोनीनां दैत्य दानव यक्षगन्धर्व किन्नर नाग नागसुपर्णरक्षः प्रभृतीनाम् । अथाग्निष्वाता देवानां मरुदादीनां प्राधान्येन पितर इष्यन्ते । तत एवै तेषामुत्पत्तेः ॥ एषु सोमसदां संख्यानं नोपलमां प्राणेवर्हिषदः षडशीति सहस्राणि । अग्निष्वात्ताश्चतुः षष्टिसहस्राणीति पौराणिकाः । एषु सन्तानकाः सनातना वा लोकाः सोमसदाम् । सोमपथाः सोमपदा वा वर्हिषदाम् । विभ्राजमाना वैभ्राजा वाऽग्निष्वात्तानाम् । तत्रेते भूयसा भवन्ति । यत्र वा यावन्तस्ते भवन्ति तावन्तस्ते सर्वे एको लोकः । नहितद्भावादतिरिच्यते तल्लोकः । सालोक्य सामीप्य सारूप्य सायुज्यक्रमेण तद्भावापत्तिरेव तल्लोका वाप्तिः ॥ ये सोमेनेजानास्तेपितरः सोमवन्तः । ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते वर्हिषदः । अथ ये ततो नान्यतरच्चन, यानग्निरेवदहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः । ते एते कर्म्मणा तत्तत्पितृलोकमासाद्य तत्तद्भावापन्ना स्तत्तनाम्ना व्यपदिश्यन्ते ॥

ये अग्निदग्धा येऽनग्निदग्धा येऽमुं लोकं पितरः क्षयन्ति ।
यांश्च विद्म याँ उचन प्रविद्म मघासु यज्ञं सुकृतं जुषन्ताम् ॥

इति मन्त्रवर्णान्मघानक्षत्राधिष्ठातारोऽग्निदग्धानग्निदग्धा लक्षणाः केचिदन्येपितरः श्रूयन्ते । तेषामग्निष्वात्तेष्वन्तर्भावः, साधर्म्यात् पितृविशेषत्वे प्रमाणान्तरा नुपलब्धेश्चेति दिक् ॥

१—पराः	२—मध्यमाः	३—अवराः
देवपितरः	प्रेतपितरः	ऋतुपितरः

१—पराः	सनातनलोकाः	सोमसदः	सोमेनेजानानाम्।
२—मध्यमाः	सोमपथलोकाः	बर्हिषदः	पक्वेनदत्तेनलोकजयिनाम्। ८६०००
३—अवराः	वैभ्राजलोकाः	अग्निष्वात्ताः	अयाजिनामग्निदग्धानाम्। ६४००

अथैतेषां भोगः संवत्सरे समयविषये भवति। तथाहि—संवत्सरः प्रजापतिः। तस्य ऋतंच सत्यंचेति द्वे तन्वौ भवतः। उदगयनादारभ्य संवत्सरं यावद्विपरिवर्तमानो वृद्धिह्रास क्रमानुषक्तः कश्चिदेकोऽग्निऋतंनाम सास्यैकातनूर्भवति। अथ दक्षिणायनादारभ्य संवत्सरं यावद्विपरिवर्तमानो वृद्धिह्रास क्रमानुषक्तः कश्चिदेकः सोमः एव सत्यंनाम। सास्यापरा तनुर्भवति। ऋत सत्यमयोहि संवत्सरः प्रजापतिः। तत्राग्निशरीरानुगताः सर्वे देवाउत्पद्यन्ते सोमशरीरानुगताश्चसर्वेऽसुराः। विरुद्धप्रकृतित्वादहर्निशं ते परस्परतो विस्पर्द्धन्ते। विस्पर्द्धमानेषु च देवा वृत्रंजघ्नुः। तत्र संग्रामे ये देवा व्यजयन्त त इमे—वसन्तो, ग्रीष्मो, वर्षाः,। अथ यानहतन् यान् पितृ यज्ञेन पुनः समैरयन्त त इमे—शरत्, हेमन्त, शिशिरः। त एवैते त्रयः सोमसदो बर्हिषदोऽग्निष्वात्तानाम। पितृ यज्ञेषु हुतं हविरेषामेवोपगच्छति। संवत्सर वसन्त शरदादयः कालवाचिनोऽप्यत्र प्रकरणे तत्तत्कालनित्येषुधर्म्मेषु प्रयुक्ता द्रष्टव्या न कालमात्रे। अत्रोत्तर गोल वर्तिनो वसन्तादयो ज्ञेयाः। प्रक्रमाणां त्रयाणां सयुक्तस्य तथैवोपपत्तेः॥

एषां पुनस्त्रयाणां पितॄणां सोमसदबर्हिषदग्निष्वात्तानां सहयोगिनस्त्रयो देवाः भवन्ति—सोमः, यमः, अग्निः इति॥ देवा अप्येते पितृ साहचर्यात् पितरोऽप्युच्यन्ते। अथवा देवानामेवैषां त्रिभिर्ऋषिभिःक्रमेण संपृक्तानां सतां पितृत्वमिष्यते—अत्रिणाऽङ्गिरसा भृगुणाचेति। सोमोऽस्मात्रिणायुज्यते। अत्रिश्चायं सोमस्य पिता प्रसिद्धः चन्द्रस्यात्रिजन्यत्वस्मरणात्। तेनात्रिणायुक्तः सोमः पितृमानित्युच्यते। तत्रा त्र्यंशानां प्राधान्ये सोमवद्भ्यः पितृभ्यः स्वधा क्रियते। साम्येसोमाय पितृ मते। न्यून त्वेतु सोमाय पितृपीताय इति विशेषः॥

यमस्त्वङ्गिरसायुज्यते। तत्राऽङ्गिरसां वैशेष्ये यमोऽङ्गिरानाम। साम्येयमोऽङ्गिरस्वानुच्यते। न्यूनत्वेतु स यमोऽङ्गिरसांपतिरितिविशेषः॥.॥ भृगुः कविः तदंशः कव्यम्। तद्वहति स कव्यवाहनः कव्यवाड् वा। भृगुवंशयुक्त इत्यर्थः। स यत्रायं भृग्वंशोऽग्नितोऽधिको वा समो वा यूनो वास्यात् सर्वथापि कव्यवाहन एवोच्यते॥ अथवा यमोऽङ्गिरा इतिवा, यमोऽङ्गिरस्वानिति वा, यमोऽङ्गिरसां पतिरिति वा समाना देवता। तथा सोमवन्तः पितर इति वा, सोमः पितृमानिति वा, सोमः पितृ पीत इतिवा समानादेवतेतिबोध्यम्। ब्रह्मवैवर्तेतु अग्नेःसोमस्य चाङ्गिरसा योगमुपदर्शयताभ्यां स्वधाकार मङ्गिरसे च नमस्कारं उपदिदेश। तदन्यत्र पुराणादौ प्रायेण न स्मर्य्यते। इत्थं चादौ हविर्दाने नैषां सोमयमाग्निना मप्यायनं कृत्वा पश्चात् पितॄन् संतर्प्ययेत्। स यतः सोमाय पितृमते जुहोति तेन सोम ज्येष्ठान् सोमपान् पितॄन् प्रीणाति। यत्तु यमायाङ्गिरस्वते जुहोति

तेन यम ज्येष्ठान् बर्हिषदः पितॄन् प्रीणाति । अथ यदग्नयेकव्यवाहनाय स्विष्टकृतं तेनाग्निजेष्ठान-ग्निष्वात्तापितॄन् प्रीणाति तेन सोम यमाग्नीना माप्यायनात् सोमसदो बर्हिषदोऽग्निष्वात्ताश्चा-प्यायिता भवन्तीति सिद्धम ॥

त्रिविधा एवेह भावा दृश्यन्ते—उष्णः शीतोष्ण शीतश्चेति । यावानुष्णः सोऽग्निः । शीतः सोमोऽनुष्णा शीतस्त्वेष यमः ! तेष्वेतेष्व यमग्निर्दक्षिणत आगत्योत्तरांदिश मनवरतमनु धावति । अग्नेरूर्ध्व चारित्व स्वाभाव्यात् । विश्वं प्रत्यूर्ध्वत्वेन गृहीताया एव दिश उदीचीत्वात् । एवमयं सोमः खलूत्तरत आगच्छन् दक्षिणां दिशमनवरतमनुधावति । तस्याग्नि वैपरीत्येनाधो गामित्व स्वाभाव्यात् । विश्वं प्रत्यधस्त्वेन गृहीताया एव दिशोऽवाचीत्वात् । तन्मध्ये च तयो-र्नियामकः कश्चन वैवस्वतः प्राणो यमो नाम प्रवर्तते । तथा च महर्षि वचनं श्रूयते—

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृत माहितम् ।
मृत्यु र्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति ॥ इति ॥

अग्नौहि संतत धारया हूयमानः सोमो विश्वं जनयति । सोऽयमन्तरास्थितो यमो यदैवाग्नौ सोमाहुतिं यमयति— अथ स त्रास आत्मा शरीरं त्यजन्म्रियते तस्मात्समृत्युर्नाम । यत एवैषां त्रयाणां प्रभावादिदं विश्वं प्रवर्तते तस्मादेते त्रयः पितरः । तानेतान् चातुर्मास्य पर्वणि पित्र्येष्टौ यजन्ते । तत्रसोमायोत्तरतो जुहोति, अग्नये दक्षिणतः, अथै तयोरन्ते यमायेति । अत एवैषां सयुजां पितॄणामप्येता एव दिशो भवन्ति सोमसदामुत्तरतः, बर्हिषदामन्ततः । अग्निष्वात्तानां दक्षिणत इति ॥

अथापरथा व्याख्यास्यामः । अत्र्यङ्गिरो भृगुभिर्ऋषिभिः कृतात्मानः सोम यमाग्नय स्त्रयोऽप्येते परस्परतः ससक्ताः पितृशब्दं भजन्ते । परस्पर संसक्ता एवैते संवत्सर कालभोग्याः सवत्सरोनाम । तस्य द्वे तन्वौ भवतः ऋतं च सत्यं चेति यावाग्नि स्तदृत मथ यावान् सोमः तत्सत्यम् । तस्यैतस्य प्रजापतेर्य्या सत्यमात्रात्मिका तनूरभवत् ततः पितॄन् सृष्ट्वा स तामपि तनु मुत्ससर्जेति विष्णु पुराणे स्मर्य्यते ॥

अग्निस्तु--उदगयनवेलायामुत्पन्नो वसन्तग्रीष्मवर्षासु क्रमेण परिवर्द्धते तत्रतावदस्या वयसः सर्वेषुवाय्वादिष्वर्थेषु वसन्तो भवन्तीत्येतत्क्रियोपलक्षितः स कालोवसन्तः । तावत्कालिकोऽ-यमग्निरपि वसन्तः । अथ क्रमेण प्राबल्यं गच्छन् सर्वमाक्रम्य गृह्णातीत्येतत्क्रियोपलक्षितः कालो ग्रीष्मोऽग्निरपि ग्रीष्मः । नितरांदहतीति निदाघः । दाहकर्म्मणैवोष्माच । ततोऽप्यतितरां वर्षिष्ठो भूत्वा तोयात्मना परिणतः प्रवर्षति वर्षति वेत्येतत्कर्म्मणा प्रावृड्वा वर्षावा । एतावान् वृद्धिकालः ।

अथ क्रमेणैवह्रासकालः । तत्रतावदयमग्निर्य्यविता कालेन शीर्य्यमाणावयव इव भवति सकालोऽग्निश्च शरद् । ततो हीनतां गतोग्नि स्तत्कालश्च हेमन्तः । अथ पूर्णतया शीर्णरूपोऽग्निस्तत्काल श्च शिशिरः इति । स यथा चन्द्रोदर्शान्तादूर्ध्वं समुत्पद्य दर्शान्ते म्रीयते । एव मयमृताग्निरुदगयनादौ समुत्पद्य दक्षिणायनान्ते म्रियते । स एतावानमुष्य ऋताग्नेरेको भोगकालः संवत्सरः । तस्यैते वृद्धिह्रासोपलक्षिताः षडवयवा ऋतवोनाम । अग्नयोऽप्येते ऋतवः । तेपितरः । ऋतुभिरेवैषां सर्वेषामर्थजातानामुत्पत्तेर्दृश्यमानत्वात् । स च ऋतु स्त्रेधाविकल्प्यते--अस्ति स दिवसः, अस्ति स मासः, अस्ति स संवत्सरः । त एते त्रयोऽपीत्थं पितापितामहःप्रपितामह इव पितरः संभवन्ति ॥

कचित्तु पञ्चैव ऋतवः श्रूयन्ते--हेमन्त शिशिरयोः समासेन तत्राय मेकैको द्वा सप्तति दिवसःस्यात । अपि च मनुष्याणां पशूनां पक्षीणां सरीसृपाणां स्थावराणां चेति पञ्चानां ये पुष्प कालास्ते पञ्चर्तवो द्रष्टव्या इत्याहः । एते च सर्वोत्पादकत्वात् पितरः स्युः ॥

एषु सर्वत्र स्थानिनां स्थानाख्यया विवक्षणात् स्थानिपरा एते संवत्सरादयः शब्दा आख्याताः । स्थानी चाग्निरिहाख्यातः । तत्रमतभेदान् प्रदर्शयामः । अग्निरिति वायु पुराणम् ॥ १ ॥ तमो भूते जगत्त्रये सर्वतः पूर्वमम्भांसि जज्ञिरे । ते ब्रह्मणः पुत्रा उत्तरेषाममीषां सर्वेषां पितरः इत्यादित्यपुराणम ॥ २ ॥ वराहरूपेणविष्णुना समुद्रादुद्धृतायाः पृथिव्यादंष्ट्राविलग्ना मृत्पिण्डाःपितरः इति महाभारतम् ॥ ३ ॥ ब्रह्मणः प्रजापतेर्देहात् तन्मात्राउत्पद्यन्त । ताऊर्ध्वं जिगमिषन्त्यो वियत्संस्थास्तपस्विन्यः पितरउच्यन्ते । इति वराहपुराणम ॥ ४ ॥ तेषामेषां सर्वेषामग्निसोममयमेष्वेव तात्पर्य्यं पर्य्यवस्यति । अग्न्यादयस्तु तारतम्यवन्तः परस्परसंसृष्टाऋतवः । तएवेहपितरइतिसंसिद्धम् ॥ अत एवहि क्रमेणाग्निष्वात्तासोमवन्तो बर्हिषदश्चेति त्रयः पितरः । अतएवहिक्रमेण भृगवोऽत्रयोऽङ्गिरसश्चेति त्रयः पितर इत्यपिसिद्धम् ॥ तदित्थमेते सोमसदादयेत्रयोऽप्यमूर्त्ता धर्म्ममूर्तयो नान्दीमुखाःपितरः समाख्याताः ॥

दिशः	देवाः	ऋषयः	पितरः	लोकाः	जनकाः	जन्याः	संख्याताः
उत्तरा	सोमः	पितृमान्	सोमसदः	सनातनाः	साध्यानाम्	वैराजाः	....
अन्तरा	यज्ञः	अङ्गिरस्वान्	बर्हिषदः	सोमपथाः	देवयोनिनाम्	मारीचाः	८६०००
दक्षिणा	अग्निः	कव्यवाहनः	अग्निष्वात्ताः	वैभ्राजाः	देवानाम्	पौलस्त्याः	६४०००

अथ पार्वणाः पितरः प्रदर्श्यन्ते । तेचनान्दीमुखेभ्यःपितृभ्योऽधस्तादनुवर्तन्ते तिर्य्यक्संस्था अधोमुखामूर्तिमन्तश्च । तइमेचतुर्विधाः--सोमपाः, हविर्भुजः, आज्यपाः, सुकालिनश्चेति ॥

सोमपाः, सोमवन्तः, सोम्याः काव्या, कव्यादाः इत्येकार्थाः। द्विविधा हि सोमपा भवन्ति— वैराजाः काव्याश्च। तत्र वैराजसोमपा अमूर्ता नान्दीमुखेषूक्ताः। येत्वपराःकाव्याः सोमपास्त इह पार्वणा उच्यन्ते। एतेहि कवेरुत्पद्यन्ते तस्मात्काव्या इत्याहुः। यत्रैतेप्राधान्येन तिष्ठन्ति तेज्योतिर्भासा नाम लोकाः। अथवा यत्र यावन्तस्ते भवन्ति तावन्तस्ते सर्वे ज्योतिर्भासा नाम लोकः। लोकत्वे तेषामेव ज्योतिर्भाससंज्ञा। न च तद्भावादतिरिच्यते तल्लोकः। सालोक्यसामीप्यादीना तद्भावापत्तिरेव तल्लोका वाप्तिः। एव मुत्तरेष्वपि द्रष्टव्यम्॥

अथ हविर्भुजः, हविष्मन्तः, इत्यनर्थान्तरम्। एतएवोपहूताः पितर इति केचिदाहुः। अङ्गिरसोह्येतेजायन्ते तस्मादङ्गिरसोनाम एषां मरीचानाम लोकाः। मारीचिर्गर्भावा॥ अथाज्यपाः। त एव सुस्वधा इत्याहुः। एतेपुलस्त्यादुत्पद्यन्ते तस्मात् पौलस्त्याः। मतान्तरे पुलहपुत्रात् तस्मात् कार्दमास्ते भवन्ति। एषां तेजस्विनो नामलोकाः॥ अथ सुकालिनः सुकाला अप्युच्यन्ते वसिष्ठोत्पन्नत्वाद्वासिष्ठाः। तेषां मानसा नाम लोकाः॥

सोमपाः	सोमवन्तः	ज्योतिर्भासाः	ब्राह्मणानाम्	आग्नेयानाम्	काव्याः
हविर्भुजः	हविष्मन्तः	मारीचाः	क्षत्रियाणाम्	ऐन्द्राणाम्	पौलहाः
आज्यपाः उकपाः	सुस्वधाः	तेजस्विनः	वैश्यानाम्	वैश्वदेव्यानाम्	पौलस्त्याः
सुकालिनः	सुकालाः	मानसाः	शूद्राणाम्	पौष्णानाम्	वासिष्ठाः

सर्वेषां पितरोप्येते चत्वारोब्राह्मणादीनां चतुर्णां विशिष्य पितरो भवन्ति। सोमपा ब्राह्मणानाम्, हविर्भुजः क्षत्रियाणाम्, आज्यपा वैश्यानाम्, सुकालिनः शूद्राणाम्। तत्रैते ब्राह्मणादयः शब्दा न मनुष्य विशेषमात्रपराः अपितु यावदिदंकिञ्चिद् दृश्यते स्थावरं च जङ्गमञ्च, प्राणिचाप्राणि च तत्सर्वं चातुर्वर्ण्यमिहेष्यते। सर्वत्रैवाऽमुष्मिन् भूतिभौतिक प्रपञ्चे—यावदाग्नेयं ब्राह्मणं, यावदैन्द्रंक्षत्रियं, यावद्वैश्वदेव्यं वैश्यम्,यावत्पौष्णं तु शूद्रमित्येषा परिभाषा वेदितव्या। सर्वेषामेषामर्थजातानामग्नीन्द्रमरुत्पूष संयोगेन विभज्यविभिन्नप्रकृतिकतयोत्पन्नत्वात्। यथा दिव्येपशुचतुष्टये—अजोब्राह्मणः, मेषःक्षत्रियः, गौर्वैश्यः, अश्वस्तुशूद्र इतिश्रूयते। एकस्मिन्नेवच प्राणिशरीरे, मुखभागो ब्राह्मणः उरोभागः क्षत्रियः, मध्यभागोवैश्यः, पादभागस्तुशूद्रः, इत्येव मन्यत्रान्यत्रापि द्रष्टव्यम्। अतएवैषां सर्वत्र सांकर्य्यात् सर्वएवैते विवक्षानुरोधेन सर्वेषां पितरः संभवन्ति। वस्त्व सांकर्यं व्यवहार सांकर्यस्य दोषानाधायकतया संप्रतिपन्नत्वात्॥

सोमग्राहिणः सोमपाः। हविर्ग्राहिणो हविर्भुजः। आज्यग्राहिणः आज्यपाः। आज्यसोमयोर्द्रव्यद्रव्यतया तद्ग्रहणे पानव्यवहारः। हविषस्तु घनद्रव्यतया तद्ग्रहणे भोजनव्यवहारः।

यानि द्रवद्रव्याण्यग्निसंयोगाद्दह्यन्ते, अर्चिर्भावेन च प्रज्वलन्ति तानि घृततैलमदिरादीनि आज्यानि। यानि तु द्रवद्रव्याणि न तथा दह्यन्ते न प्रज्वलन्ति तानि पयः प्रभृतीनि सोमशब्दानि। सोमस्यानग्निरूपत्वात्। तथा च यो पितरः सोमद्रव्यमात्मसात्कृत्वाऽऽप्याय्यमाना भवन्ति ते सोमपाः। आज्यद्रव्येणाप्याय्यमाना हविर्भुजः। ये तु न गृह्णन्ति। कृतसम्बन्धा अप्यगृहीत्वैव निवर्तन्ते ते तेसुकालिनः—इति भेदः॥

चत्वारोऽप्येते पार्वणाः पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि च सीदन्ति। तेनैतेषां सहचारिणस्त्रयो देवा भवन्ति-वसवो, रुद्रा, आदित्याश्च। तेषु वसवः पृथिवीसदो रुद्रा, अन्तरिक्षसद आदित्या, दिविषदः पितॄन् सन्तर्पयन्ति सालोक्यात् पितृसहचराश्च ते पितरः समाख्यायन्ते।

वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः इति याज्ञवल्क्यस्मरणात्॥

अथ ये तृतीया पितरस्तेप्रेता मनुष्यपितरः। ते वायुपुराणे स्मर्य्यन्ते।

ब्रह्मचर्य्येण तपसा यज्ञेन प्रजया तथा।
श्रद्धया प्रज्ञया चैव प्रदानेन च सप्तधा॥ १॥
कर्म्मस्वेतेषु ये युक्ता भवन्त्यादेहपातनात्।
देवैस्तैःपितृभिःसार्द्धं मोदन्ते सोमपाज्यपैः॥ इति।

ब्रह्मपुराणे च—

पितापितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।
त्रयोह्यश्रुमुखाह्यते पितरः परिकीर्त्तिताः॥ २॥
तेभ्यः पूर्वतरा ये च प्रजावन्तः सुखोचिताः।
ते तु नान्दीमुखाः नान्दीसमृद्धिरिति कथ्यते॥ ३॥ इति॥

येस्युः पितामहादूर्ध्वं तेस्युर्न्नान्दीमुखा इति—मार्कण्डेय पुराणे च। अश्रुमुखाश्च नान्दीमुखाश्च। सप्तैते प्रेतपितरः सोम्याः। एते हि सोमं गता भवन्ति।

"ये वै केचास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इति० कौषी० श्रुतेः एते सद्गतिमन्तः। अथ ये दुर्गतिमन्तस्ते सोमात्पतिता यातनास्थानमागता यतस्ततो विद्रवन्ति। केषांचित्तु गतिर्नास्ति। तेस्थावरान्तेषु पञ्चसु तिर्य्यग्योन्यादिषु नानाभावेषु सम्भवन्ति। इत्येषां

त्रिविधास्थितिः। एतच्च धर्म्मसमीक्षायां सापिण्ड्यप्रकरणे विस्तरेण प्रपञ्चयिष्यते। इह तु प्रेतानां पितॄणां श्रौते कर्म्मणि देवतात्वं नारवीत्यतो विरम्यते ॥

तदित्थं श्रौतकर्म्मोपयुक्ताः प्राणविशेषाः सप्तैव पितरः सिद्धाः-✻अग्निष्वात्ताः, वर्हिषदः, सोमवन्तः, आज्यपाः, हविर्भुजः, सोमपाः, सुकालिनश्चेति ॥ तेषां त्रयः प्रथमाः अमूर्ताः परे चत्वारो मूर्तिमन्तः इत्युक्तम्। अग्निः, यमः, सोमः इत्येते त्रयः क्रमेणाग्निष्वात्तादीनामाज्यपादीनां च पितॄणां देवा इष्यन्ते। सुकालिनस्तुनिर्देवताः। वसवोरुद्रआदित्या इत्येते त्रयोदेवाः पितृसन्तर्प्पणा भवन्ति ॥ अथ भृगवः, अङ्गिरसः, अत्रयः, इत्येते त्रयः क्रमेणाग्निष्वात्तादीनामाज्यपादीनाञ्च पितॄणामृषयः सम्भवन्ति येत्वथर्वाणः श्रूयते तेङ्गिरोविशेषत्वात् ततो नातिरिच्यन्ते तस्मात् त्रयएवर्षयः स्युः। सुकालिनां तु वसिष्ठाऋषयः ॥

ऋषिभ्यश्चैते पितरः सप्तापि प्रजायन्ते - ते यथा—मरीचिः, पुलस्त्यो वा अत्रिः, मरीचि, र्वा विराट्, पुलस्त्यः, कर्दमोवा, अङ्गिराः, भृगुः, वसिष्ठः, इति। एते चर्षयो मरीच्यादयो मनोर्विराजः प्रजायन्ते। स च मनुर्हिरण्यगर्भात्। तदुक्तम् मानवीये—

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः।
तेषामृषीणां सप्तानां पुत्रः पितृगणाः स्मृताः ॥ इति ॥
ऋषिभ्यः पितरोजाताः पितृभ्यो देवदानवाः।
देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ इति च ॥

तथा च अग्निष्वात्तादयः पितरः। मरीच्यादयः पितामहाः। मनुः प्रपितामहः। हिरण्यगर्भो वृद्ध इत्येवं सर्वेषामेषां पितृपरम्परा सिद्धाः ॥

यथाहुः। "त्रयो हनुवैपितरः—अवमाः, ऊर्वा काव्या इति श्रुत्यन्तर प्रसिद्धानां पितृविशेषाणामनाख्यातानान्न्यूनत्वमितिचेन्न। 'उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुंयईयुरवृकाऋतज्ञास्तेनोऽवन्तुपितरोहवेषु"—इतिमन्त्र प्रसिद्धानामवरपरमध्यमानां पितॄणामेवश्रुत्यन्तरेऽवमादिशब्दैरभिनयादनतिरेकात्। नहितदतिरेके प्रमाणान्तरमुपलभामहे इति दिक् ॥

✻१ भृगुः	अग्निष्वात्ताः			४ पुलहः	हविर्भुजः
२ अङ्गिराः	वर्हिषदः			५ पुलस्त्यः	आज्यपाः
३ अत्रिः	सोमसदः	सुभास्वराः	आभास्वराः	६ वशिष्ठः	सुकालिनः
				७ मरीचिः	सोमपाः

अथ पुराणवचनेष्वेके विप्रतिपद्यन्ते । इहतावदग्निष्वात्तादयस्त्रय एव दिव्यपितरः समाख्याताः । अग्न्यादिभिः षड्वा । पुराणे त्वष्टौदिव्यपितरः स्मर्य्यन्ते—

कव्यवालोऽनलः सोमो यमश्चैवार्य्यमातथा ।
अग्निष्वात्ता वर्हिषदः सोमपाः पितृदेवताः ॥ इति ॥

तैन कव्यवालार्य्यम्णोरनाख्यानान्न्यूनतेति चेन्न । तयोः पित्रन्तरतया श्रुतावप्रसिद्धेः । वस्तुतस्तु कव्यवाडित्यग्नेर्विशेषणम् । अर्य्यमेति यमस्येत्यदोषः । कव्यवाल इतिस्वपपाठः । स्वरद्वय मध्यस्थतायां डकारस्य दुःस्पृष्टत्व सम्भवेऽप्यकारान्तत्वा सम्भवात् ॥ तदित्थं षड्वात्रय एव वा दिव्यपितरोनेयाः ॥ अथाहुः—अन्येपि पितृगणाः पुराणे प्रसिद्धयन्ति । रश्मिपाः, उपहूताः, आयन्तुनः, स्वादुषदश्चेति । तदुक्तं नागरखण्डे—

अग्निष्वात्तावर्हिषदः आज्यपाः सोमपाः स्मृताः ।
रश्मिपा उपहूताश्च तथैवायन्तुनः परे ॥
तथा स्वादुषदश्चान्ये स्मृता नान्दीमुखा नृप ।
एते पितृगणाःख्यातास्ते च देव समुद्भवाः ॥
आदित्यावसवोरुद्रानासत्यावश्विनावपि ।
सन्तर्प्पयन्ति ते चैतानमुक्त्वा नान्दीमुखान् पितॄन् ॥ इति ॥

नैतदस्ति । रश्मिपादीनां पृथक् पितॄणां श्रुतिष्वप्रसिद्धेः पुराणेषु चाप्रसिद्धेः । ननूक्तं नागरखण्ड वचनमिति चेन्न । वालचापलतयोपक्षिप्तवचनानामेषामपुराणत्वात । न हि पुराणेषु विक्षिप्तैः प्रक्षिप्ता अपि श्लोका वचनाभासाः प्रमाणानि सम्भवन्ति तेषामृष्य संवादात् । वस्तुतस्तु—"उपहूताः पितरः सोम्यासोवर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु" । इति ऋङ्मन्त्रे कृताह्वानार्थमुपहूतपदं श्रूयते । एवमेव—"आयन्तुनः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः" इति मन्त्रे आयन्तुनः" इति पदद्वयमस्माकं हवेष्वागच्छन्तु—इत्येतदर्थकं श्रूयते । एवमेवान्यत्रान्यत्र स्वादुषदो रश्मिपा इत्येतद्द्वयमपि विशेषणविधया श्रूयते, तत एवार्थानभिज्ञैः कैश्चिदेत्रमन्येऽन्ये पितर उपकल्पिता इत्युपेद्यन्ते । यदपि विष्णुधर्म्मोत्तरे-पितॄणां सप्तगणाभवन्ति—सुभास्वराः, वर्हिषदः, अग्निष्वात्ताः, इति त्रयोमूर्तिविहीनाः । कव्यादाः, उपहूताः, आज्यपाः, सुकालिनः, इति चत्वारोमूर्तिमन्तः"इत्येवं हविष्मदर्थतयोपहूतपदंप्रयुज्यते तदपिचिन्त्यम् । सर्वेषामुपहूततायाः श्रुत्या लाभाद्धविष्मतामेवोपहूततायां अपार्थत्वात् । नन्दिपुराणे तु शुद्धमूर्तयः पितरः पितृयाजिनां

योनयः पञ्चधा—अग्निष्वात्ताः, बर्हिषदः, काव्याः, सुकालिनः, यामाः,—इत्याख्यायन्ते। तत्र हविष्मन्तः एव यामाः स्युः। एवमाज्यपादीनां सुस्वधादीनि नामान्तराणि नेयानि। यत्तु हारीतस्मृतौ—

सोमोयमोऽङ्गिराश्चैव सोमपापितरस्तथा।
बर्हिषदोऽग्निष्वात्ताश्च हुतादः षड्विधो गणः॥
चन्द्रमा ऋतवश्चैव मृतयोऽग्नि र्दहत्यपि।
सोमोपहूताः प्राक्सोमा अनीजानाश्चब्राह्मणाः॥

इत्येवं सोमाद्यनुबन्धेन चन्द्रादयः समाख्यायन्ते। तत्रैतेष्वेतेषां संनिधानमात्रं विवि-क्षितं द्रष्टव्यमिति दिक्॥

॥ इति पितृनिरूपणाधिकारः॥

———

❋ अथ ऋषिनिर्वचन सामान्याधिकारः ❋

ऋषिशब्दस्यचतुष्टयी प्रवृत्तिः—असल्लक्षणा, रोचनालक्षणा, द्रष्टृलक्षणा, वक्तृलक्षणा चेति। इह हि सच्चासच्च सदसच्चेति त्रिविधं ब्रह्म। सदिति वाचमाह। असदिति प्राणम्। सदसत्तु मनः। तान्येतानि वाक् प्राणमनांस्येव सर्वाणीमानि कर्म्म ब्रह्माणि। प्राणसंयुक्तानां हि लोके सत्ता दृश्यते। प्राणस्त्वयमप्राणः। तस्मादसच्छब्दः। नानाजातीयाश्चैतेप्राणाः। तेषां घने पुरुषशब्दो रूढः। स द्विधिः—नानाजातीय प्राणनिकायात्मा च, विजातीयास्पृष्टैक जातीयघनश्चेति। तत्राद्ये देवशब्दो द्वितीयेत्वेष ऋषिशब्दो रूढ। प्राण एव देवाः, प्राणा एव ऋषयः, किन्तु न देवा ऋषयो न ऋषयो देवाः। यत्र तु देवानामिन्द्रादीनामृषिकंचिदुपचर्य्यते तत्रवक्तृत्वलक्षणं तत्स्यान्न त्वसल्लक्षणमितिविवेक्तव्यम्। यत्तुवाजसनेयश्रुतौ—

"योऽयं मध्येप्राणः—एष एवेन्द्रः" इत्येवमृषेरिन्द्रत्वमाख्यातं तत्तस्य नानापुरुषरसप्राहितया देवत्व सापेक्षंस्यात्। बृहस्पतिस्त्वेष देववर्गेश्रूयते पितृवर्गे च ऋषिवर्गे च। सभिन्नभिन्नोऽर्थः स्यात् समानशब्द इति न दोषः। एवमन्यात्रान्यत्र देवता स्वरूप निर्वचने विरोधाभासाः परा कार्य्याः॥ इति प्रथमा प्रवृत्तिः॥ १॥

अथ या एता रोचन्ते रोचनादिवि· यासु ऋक्ष नक्षत्र तारकादयः शब्दाः प्रसिद्ध्यन्ते, तास्वेत मृषिशब्द मुपचरन्तिस्म पूर्वेमहर्षयः। तथा च श्रूयते—

"एकं द्वे त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि,, अथैता एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिकाः। ऋक्षाणां ह वा एता अग्रे पत्न्य आसुः। सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्या चक्षते। अमीह्युत्तरा हि सप्तर्षयः उद्यन्ति पर एताः" इति॥ तत्र—"जज्ञानः सप्तमातृभि र्मेधा माशासतश्रिये। अयं ध्रुवोरयिणां चिकेतदा"—इति मन्त्रोपलक्षिताः विष्णुपद सप्तमातृका एव ऋक्षाख्यमृगाकारेण सन्निवेशिता इहऋक्षाः स्युस्तत्रैव चायमृषिशब्दोपचारः। अपि च—"य इमाविश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होतान्यषीदत् पितानः। स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश॥ १॥ विश्वकर्म्मा विमना आद् विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् तेषामिष्टानि समिषामदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् पर एकमाहुः॥२॥ त आ यजन्त द्रविणं समस्माऋषयः पूर्वे जरितारो न भूता! अमूर्ते मूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि"॥ ३॥ इत्यादि मन्त्रेषु ध्रुवतारायां तदा

सप्त सप्ततारासु तदन्यतारकासु चायमृषिशब्दोपचारोदृश्यते ॥ अन्ये च मत्स्यागस्त्यवसिष्ठा आपोऽपांवत्सो भृग्वत्र्यङ्गिरसो मार्कण्डेयादयो, ज्योतिर्विशेषाऋषय उच्यन्ते इति नक्षत्रविद्यायां विस्तरः ॥ अथ मतम् । सूर्य्यरश्मि प्रतिष्ठाः सर्वप्राणाः देवाः । चन्द्रांशु प्रतिष्ठाः सर्वप्राणाः पितरः । ऋक्षरोचना प्रतिष्ठाः, सर्वप्राणा ऋषय इति ॥ इति द्वितीया प्रवृत्तिः ॥ २ ॥

अथ प्राणानां देवानां भूतानां भौतिकानां चार्थानां नियन्तः कार्य्यकारणभावोविद्या । नियतं सत्यं यथातथ्यं सा विद्या । तद्ब्रह्म । सवेदः । यच्च पगृह्यमाणधर्म्मेणाभिनीयमाना नियतिर्ब्रह्म । गृहीतपूर्वाहितसंस्कारेणाभिनीयमाना नियतिर्विद्या । वाचाऽभिनीयमानानियतिर्वेदः । इत्येवमेषां व्यवस्थितविषयत्वमिष्टं तथाप्येषु व्यवहारसाङ्कर्य्येण प्रवर्तन्तेप्राज्ञाः । अनपेक्ष्यैवतु धर्म्मसंस्कार- वाग्विषयत्व मुपचरन्तिस्मपूर्वे–त्रयोवेदाः, त्रयीविद्या, त्रयंब्रह्मेति । अपिच शब्दोपपादितंदेवता- विज्ञानंवेदः । देवताविज्ञानोपपादकः शब्दो मन्त्रः—इत्येवंवेदमन्त्रशब्दयो र्व्यवस्थितविषयत्वेऽपि संज्ञासंज्ञिनोस्तादात्म्योपचारात् तयोःसंकीर्णो व्यवहारः ।

"प्रत्यक्षेणानुमित्यावा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतंविदन्तिवेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥"

इत्यत्र शब्दाभिप्रायेणवेदशब्दप्रयोगात् ॥ "ऋषयोमन्त्रद्रष्टारः" साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः । तेसाक्षात्कृतधर्मस्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः इत्यादिषु विद्याभिप्रायेण मन्त्रशब्द- प्रयोगाच्च ॥ अथवा भवतिहि–शब्दस्तदर्थश्चान्योन्येव्यासक्तौमन्त्रशब्दप्रदेशः । तदनश्चेह दैवत- विज्ञानं दैवताशीश्च । व्यासज्यवृत्या च समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेऽपि प्रवर्तन्ते । यथाहि— सीमापरिच्छिन्न प्रदेशानुगतशाला समुदायस्यजनसमुदाये निरूढोऽयंग्रामशब्दोऽस्ति स प्रदेशे च प्रयुज्यतेशालासमुदायेच जनसमुदायेच । तथा देशविशेषेरूढः पञ्चालशब्दस्तदवयवेऽपि प्रयुज्यते– पूर्वेपञ्चाला उत्तरेपञ्चाला इति ॥ एवमयंशब्दोपदिष्ट विज्ञाने निरूढोमन्त्रशब्दः शब्देऽपिप्रयुज्यते विज्ञानेच । मन्त्रसमानार्थो ब्रह्मशब्दोऽप्यस्ति । तस्याप्यतएवद्वैभाव्यमाचष्ट ॥

"द्वेब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परंचयत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥"

इति शब्दात्मक ब्रह्म वेद्यमेवैतद्विज्ञानात्मकं परं ब्रह्म । तदित्थं वाक्यविद्यै तदुभयव्यूहे- निरूढोऽयं ब्रह्मशब्दश्च मन्त्रशब्दश्चेति सिद्धम् ॥

तथा चैषामृषीणां शब्दरचनाकर्तृत्वाभिप्रायेण मन्त्रकर्तृत्वं, देवता विज्ञानसाक्षात् कर्तृत्वाभिप्रायेणतु मन्त्रद्रष्टृत्वमित्युभयं समञ्जसं भवति। तत्र "यामृषयोमन्त्रकृतोमनीषिण अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण। तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके" इति। "नमो ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः। मासामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रविदः प्रादुर्दैवीं वाचम्" इत्यादि श्रुतिषु मन्त्रकर्तृत्वमृषीणां श्रूयते॥ देवा इह पारोवर्य्यं विदः शुश्रुवांसोऽनुचानाः॥ तदीयाहीयं वाक्। युक्तं चैतत्। न चैषा वाक्यरचना स्वतः संभवति। शरीरबुद्धीन्द्रियोपपाद्य-त्वात्। तथा चोक्तमभियुक्तैः—"बुद्धिपूर्वा वाक्य कृतिर्वेदे ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धिलिङ्गम्" इति॥

तस्मात् कृतका एते वेदमन्त्राः। ये त्वतीन्द्रियार्थ विज्ञानात्मका वेदाः। न चैते शक्य-मुत्पादयितुमनीश्वरैः। अतीन्द्रियत्वादनादित्वादपौरुषेयत्वाच्च। ननु—"नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा" इति श्रुत्या,

अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वा प्रवृत्तयः॥

इत्यादि स्मृत्याच्च वागात्मकस्यैव वेदस्याकृतकत्वमुपदिश्यते। इति चेत् सत्यम्। "यदि वै प्रजापतेः परमस्ति वागेव तत्" इति वाजपेय श्रुतौ श्रुतां नित्यामेव कांचिद्वाच मुपलक्ष्य तथा श्रवणात्। न च सा वागियमेवेति भ्रमितव्यम्। तस्याः सर्वलोकात्मकतया, त्रैलोक्यात्मकतया, सूर्य्यात्मकतया, चान्यत्रान्यत्रबहुधा श्रूयमाणत्वात्। तथाहि—"अथोवागेवेदं सर्वम्" इत्येतरेय श्रुतिः सर्वात्मकत्वमाचष्टे॥ १॥

"त्रयी वै विद्या—ऋचो यजूंषि सामानि। इयमे वर्चः। अन्तरिक्षमेव यजूंषि। द्यौः सामानि। तद्वा एतत्सहस्रं वाचः प्रजातम्। द्वे इन्द्रस्तृतीये। तृतीयं विष्णुः। ऋचश्च सामानि चेन्द्रो यजूंषि विष्णुः। तेजसो वै तत्तेजो जातं यदृचश्च साम्नश्चेन्द्रः। इन्द्र इति ह्येत माचक्षते य एष तपति। सहैषभर्ता" इति पुरश्चरण श्रुतिस्त्रैलोक्यात्मकत्वमाचष्टे॥ २॥

"संवत्सरएवाग्निः। तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्। सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता—ऋचो यजूंषि सामानि। तेनाग्निस्त्रेधा विहितः। सा या सा वाक्—असौ स आदित्यः। मण्डल मे वर्चः। अर्चिः सामानि। पुरुषो यजूंषि। अथैतदमृतम्। यदेतदर्चिर्दीप्यते इदं तत् पुष्कर पर्णम्। यदे तन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थं, ता ऋचः स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते

* अथ वेदप्रवर्तकाधिकारः *

तत्र-

॥ वेदर्षिरहस्यम् ॥

अथ वेदाचार्य्या ऋषयः। वेदोविद्या ब्रह्मेत्येकोर्थाः। ब्रह्मणो वा विद्यावेदः। ब्रह्महि यज्ञमात्मानं कुर्वत् तेनैवरूपेणेदं सर्वमभवच्च भवति च भविष्यति च। यज्ञ एवेदं सर्वं भवच्च भूतं च भविष्यच्च। तदिदं यज्ञविज्ञानं वेदः। यज्ञशरीरे च निहिताः सर्वेदेवाः। तेन यज्ञविज्ञाना देते सर्वे देवा विज्ञाता भवन्ति। तस्माद्दैवतविज्ञानं वेदः। सर्वेषां च देवानां प्रधानः प्रजापतिः। प्रजापतिप्रभवश्चायं यज्ञः प्रजापतिप्रतिष्ठः प्रजापतिपरायणः। स प्रजापत्यविनाभूतो यज्ञोऽपि प्रजापतिरेव। तस्मादेतत्प्रजापतिविद्या वेदः। अनन्ताः प्रजापतयः। अनन्ताश्चैते यज्ञाः। तेषु सर्वेषु प्रधानः सर्वेषामात्मायं भगवान् सूर्य्यः। तस्मादेतत सूर्य्यविज्ञानं वेदः। सूर्य्यस्यैव याथा तथ्येन विज्ञानात् सर्वेदेवाः सर्वेयज्ञाः सर्वे च प्रजापतयः सुविज्ञातां भवन्ति। ततः सर्वात्मना ब्रह्मविज्ञातं भवति, तथा च सर्वधर्म्माः प्रतिभासन्ते। तदित्थमेष सूर्य्यवेदश्च भवति। दैवत वेदश्च, धर्म्मवेदश्च, यज्ञवेदश्च, प्रजापतिवेदश्च, ब्रह्मवेदश्च। अथवाऽयं साधारण्येन सर्ववेदो भवति तस्मात्सामान्येन वेदशब्दः प्रयुज्यते नत्वायुर्वेद, पशुवेद, वृक्षवेदादि वदयं केनचिद्विशिष्यते। इहहि पुरात्वे तं तमर्थं दृष्ट्वादृष्ट्वायैरिदं विज्ञानमुपदिष्टं त एवैते वेदाचार्य्याऋषय आख्यायन्ते। ते च नवधा विभज्य गृह्यन्ते—मत्स्यवसिष्ठागस्त्याः, भृग्वङ्गिरोऽत्रयः, कश्यपः, कौशिको, विप्रकीर्णाश्चेति॥

मत्स्यः। वसिष्ठः। अगस्त्यः॥

इमे तावन्मत्स्यादयो द्विविधाः—प्राणविशेषाश्च तद्विद्वांसश्चेति। तत्र प्राणेष्वेवैते शब्दा मुख्याः। तद्विद्यतया तु तद्विद्यासंयोगादेवान्यत्र भक्त्या प्रयुज्यन्ते। अत एवादौ प्राणानामेषां रहस्यान्येव व्याख्यास्यामः। तत्रैते मत्स्यवसिष्ठागस्त्या मान्या उच्यन्ते कुम्भोत्पन्नत्वात्। कुम्भो ह्यत्रमानः। अथैते मैत्रावरुणयश्चोच्यन्ते। मित्रावरुणाभ्यामुर्वश्यामुत्पादितत्वात्। अहर्वै मित्रं

अथ पुराणवचनेष्वेके विप्रतिपद्यन्ते । इहतावदग्निष्वात्तादयस्त्रय एव दिव्यपितरः समाख्याताः । अग्न्यादिभिः षड्वा । पुराणे त्वष्टौदिव्यपितरः स्मर्य्यन्ते—

कव्यवालोऽनलः सोमो यमश्चैवार्य्यमातथा ।
अग्निष्वात्ता वर्हिषदः सोमपाः पितृदेवताः ॥ इति ॥

तेन कव्यवालार्य्यम्णोरनाख्यानान्न्यूनतेति चेन्न । तयोः पित्रन्तरतया श्रुतावप्रसिद्धेः । वस्तुतस्तु कव्यवाडित्यग्नेर्विशेषणम् । अर्य्यमेति यमस्येत्यदोषः । कव्यवाल इतिस्वपपाठः । स्वरद्वय मध्यस्थतायां डकारस्य दुःस्पृष्टत्व सम्भवेऽप्यकारान्तत्वा सम्भवात् ॥ तदित्थं षड्वात्रय एव वा दिव्यपितरोनेयाः ॥ अथाहुः—अन्येपि पितृगणाः पुराणे प्रसिद्ध्यन्ति । रश्मिपाः, उपहूताः, आयन्तुनः, स्वादुषदश्चेति । तदुक्तं नागरखण्डे—

अग्निष्वात्तावर्हिषदः आज्यपाः सोमपाः स्मृताः ।
रश्मिपा उपहूताश्च तथैवायन्तुनः परे ॥
तथा स्वादुषदश्चान्ये स्मृता नान्दीमुखा नृप ।
एते पितृगणाःख्यातास्ते च देव समुद्भवाः ॥
आदित्यावसवोरुद्रानासत्यावश्विनावपि ।
सन्तर्प्पयन्ति ते चैतानमुक्त्वा नान्दीमुखान् पितॄन् ॥ इति ॥

नैवदस्ति । रश्मिपादीनां पृथक् पितॄणां श्रुतिष्वप्रसिद्धेः पुराणेषु चाप्रसिद्धेः । ननूक्तं नागरखण्ड वचनमिति चेन्न । वालचापलतयोपक्षिप्तवचनानामेषामपुराणत्वात् । न हि पुराणेषु विक्षिप्तैः प्रक्षिप्ता अपि श्लोका वचनाभासाः प्रमाणानि सम्भवन्ति तेषामृष्य संवादात् । वस्तुतस्तु—"उपहूताः पितरः सोम्यासोवर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु" । इति ऋङ्मन्त्रे कृताह्वानार्थमुपहूतपदं श्रूयते । एवमेव—"आयन्तुनः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः" इति मन्त्रे आयन्तुनः" इति पदद्वयमस्माकं हवेष्वागच्छन्तु—इत्येतदर्थकं श्रूयते । एवमेवान्यत्रान्यत्र स्वादुषदो रश्मिया इत्येतद्द्वयमपि विशेषणविधया श्रूयते, तत एवार्थानभिज्ञैः कैश्चिदेत्रमन्येऽन्ये पितर उपकल्पिता इत्युपेद्यन्ते । यदपि विष्णुधर्म्मोत्तरे-पितॄणां सप्तगणाभवन्ति—सुभास्वराः, वर्हिषदः, अग्निष्वात्ताः, इति त्रयोमूर्तिविहीनाः । कव्यादाः, उपहूताः, आज्यपाः, सुकालिनः, इति चत्वारोमूर्तिमन्तः"इत्येवं हविष्मदर्थतयोपहूतपदंप्रयुज्यते तदपिचिन्त्यम् । सर्वेषामुपहूततायाः श्रुत्या लाभाद्धविष्मतामेवोपहूततायां अपार्थत्वात् । नन्दिपुराणे तु शुद्धमूर्तयः पितरः पितृयाजिनां

योनयः पञ्चधा—अग्निष्वात्ताः, बर्हिषदः, काव्याः, सुकालिनः, यामाः,–इत्याख्यायन्ते। तत्र हविष्मन्तः एव यामाः स्युः। एवमाज्यपादीनां सुस्वधादीनि नामान्तराणि नेयानि। यत्तु हारीतस्मृतौ—

सोमोयमोऽङ्गिराश्चैव सोमपापितरस्तथा।
बर्हिषदोऽग्निष्वात्ताश्च हुतादः षड्विधो गणः॥
चन्द्रमा ऋतवश्चैव मृतंयोऽग्नि र्दहत्यपि।
सोमोपहूताः प्राक्सोमा अनीजानाश्चब्राह्मणाः॥

इत्येवं सोमाद्यनुबन्धेन चन्द्रादयः समाख्यायन्ते। तत्रैतेष्वेतेषां संनिधानमात्रं विवक्षितं द्रष्टव्यमिति दिक्॥

॥ इति पितृनिरूपणाधिकारः॥

———

रात्रिर्वरुणः। प्रातरादिः सन्ध्यान्तः कालो अहः शब्दः। तेन पूर्वकपालो लक्ष्यते तदुपलक्षितो यः प्राणः स मित्रः।

"मित्रः संसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषासह" इतिश्रुतेः।

अथ सन्ध्यादिः प्रत्यूषान्तःकालो रात्रिः। तया पश्चिमकपालो लक्ष्यते। तदुपलक्षितो यः प्राणः स वरुणः—

"वियोजघानशमितेव चर्म्मोपतस्तिरे पृथिवीं सूर्य्याय" इति श्रुतेः।

कपालद्वययोगिनी याम्योत्तररेखात्मिकादिगुर्वशी। पञ्चचूडब्राह्मणे भगवता माहित्थिना दिशामेवाप्सरस्त्वेन निदानात्। भगवान् याज्ञवल्क्यस्तु—आहुतिरुर्वशीति निदानमाह। कपालद्वययोगात्मश्चायमण्डात्मको मानः कुम्भः। आपोमयं चेदमन्तरिक्षं समुद्रः। समुद्रे विहरद्भ्यामुर्वश्यादिश्याहुत्वा वा स युज्यमानाभ्यां मित्रावरुणाभ्यामाग्नेयाप्यवीर्य्यप्रक्षेपादस्मिन् कुम्भे त्रिविधाः प्राणाः प्रत्युत्पद्यन्ते—शीतवीर्य्या, उष्णवीर्य्या, अनुष्णाशीतवीर्य्याश्च। आद्याः सोमधर्म्माणः सौम्या उत्तरायतना नाम्ना ते वसिष्ठाः। आपवा अप्सवा वसिष्ठा इत्येकार्थाः। ते चापो वर्षयन्ति, मृदपां संयोगं जनयन्त एवैता आपोमृदात्मना परिणमयन्ति। अथ द्वितीया अग्निधर्म्माणस्तीव्रा दक्षिणायतना नाम्ना तेऽगस्त्या अगस्तयश्च। ते आपः पिबन्ति। मृदपां विभागं जनयन्त एवैतामृदो रसात्मना परिणमयन्ति। अथ तृतीया उग्रा मध्याकाशायतना नाम्ना ते मत्स्याः। ते यमप्राधान्यादेव याम्य मत्स्या उच्यन्ते। ज्योतिर्विदां समये त्वेषां तिस्रस्तारकाः प्रतिपद्यन्ते नियतबिम्बाः। तदित्थं त्रिविधा एव सर्वे दिव्याः प्राणाः। मत्स्याश्च वसिष्ठाश्चागस्त्याश्चेति। एतैस्त्रिभिरिदं सर्वं जगत् परिव्याप्तम्। त्रयोऽप्येते मरुत इत्याहुः। तेष्वयं मत्स्योऽपां प्रवर्द्धकः शोधकस्तद्दोष निवर्तकश्च। अगस्त्यल्पप्रचारोऽयम् तदीयमन्त्रस्यैकस्यैवोपलब्धेः। अथ महर्षयः पश्यन्ति अद्भ्यः पृथिवी भवतीति। तत्राप्त्व निवृत्युत्तरमुत्पन्ने पृथिवीत्वे तस्या अष्टौ व्याहृतयो भवन्ति—आपः, फेनो, मृत, सिकताः, शर्करा, अश्मा, अयो, हिरण्यमिति। तत्र प्राथमिकी पृथिव्या व्याहृतिर्द्रवरूपत्वादापः शब्देनैव व्यपदिश्यते सा चातिरिच्यते पृथिवीत्वमनाप्ताभिरद्भिः। तासु चैतास्वप्सु येषां मरुतां प्राणानां संयोगादप्फेनमृत् सिकताख्याश्चतस्रो व्याहृतयः क्रमेण जायन्ते ते वसिष्ठनामप्राणाः। अथ येषां पुनर्मरुतां तदूर्ध्वं संयोगादिमा उत्तराः शर्कराश्मायो हिरण्याख्याश्चतस्रो व्याहृतयः संपद्यन्ते तेऽगस्त्यानामप्राणाः। अगं पर्वतं स्त्यायति संहन्तीति व्युत्पत्तेः। प्रस्तराद्यते शर्करादयः संहतावयवा दृश्यन्ते। अन्यानि चैषां बहूनि व्रतानि विज्ञाने वक्ष्यामः॥

———

भृगुः । अङ्गिराः । अत्रिः ॥

अथ भृग्वङ्गिरोऽत्रीनाधिदैविके व्याख्यास्यामः । अस्ति हि विद्यास्वेका नक्षत्रविद्या । तस्या द्वौ भागौ—ज्योतिश्चक्रं पुराणाख्यानं च । आद्ये रोचनाविम्बानधिकृत्य तदौत्तराधर्य्य-दूरत्वगत्युदयास्तमनादयो धर्म्मा निर्दिश्यन्ते । द्वितीये त्वासामञ्जसाधिगमसौकर्य्याय विषुवदादीनि छन्दांसि, ज्योतिषां च रथांस्तदनुगतांश्च नागान् प्रकल्प्य तत्र तत्र शुप्रदेशे दृष्टानां तासां कतिपयोभिरेवराशीननेकान् कल्पयित्वा तांश्च देवतात्वेनाध्यवस्य तेषां देवसत्वनामनुचरिताख्यानानि कल्पितान्येवाख्यायन्ते । पश्यन्ति हि तत्कल्पनायामेतानि प्रयोजनानि—आख्यानेन तावत् प्ररोचनयामृदुबुद्धीनामपि सम्पद्यते तत्र साधीयसी प्रवृत्तिः । बह्वश्च धर्म्मार्था इहोपदिष्टा गृह्यन्ते । अवच्छिद्यावच्छिद्य च सग्रहेनासामनन्तानामप्यञ्जसा सर्वे संग्रहः संभाव्यते । सर्वासां च ज्योतिषां शक्तिगुणविज्ञानम् । निदानविद्यया दैविकभौतिकात्मिकाद्यर्थविज्ञान संग्रहणं चेति । अस्ति च तेषु रोहिणीलुब्धकाख्यानं तदैतरेय श्रुताविथं श्रूयते—

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितर मभ्यध्यायत् । दिवमित्यन्ये आहुः—उषसमित्यन्ये । तामृश्यो भूत्वा रोहितभूतामभ्यैत् । तं देवा अपश्यन्—अकृतं वै प्रजापतिः करोतीति । ते तमैच्छन्—य एनमारिष्यति । एतमन्योन्यस्मिन्नाविन्दन् । तेषां या एवघोरतमास्तन्व आसन्—ता एकधा समभरन । ताः संभृता एषदेवोऽभवत् । तदस्यैतद् भूतवन्नाम । तं देवा अब्रुवन्—अयं प्रजापतिरकृतमकः । इमं विध्येति । सतथेत्यब्रवीत् । स वै वोवरं वृणा इति । वृणीष्वेति । स एतमेव वरमवृणीत—पशूनामधिपत्यम् । तदस्यैतत् पशुमन्नाम । सतमभ्यायत्याविध्यत् । सविद्ध ऊर्ध्वं उदपतत् । तमेतं मृग इत्याचक्षते । य उ एव मृगव्याधः । स उ एव सः । यो रोहित् सा रोहिणी । यो एवेषु त्रिकाण्डासो एवेषु त्रिकाण्डा । तद्वा इदं प्रजापतेरेतः सिक्तमधावत् । तत्सरो भवत् । ते देवा अब्रुवन्—मेदं प्रजापतेरेतोदुषदिति । तन्मादुषमभवत् । तन्मादुषस्यमादुषत्वम् । मादुषं ह वै नामैतदयन्मानुषम् । तन्मादुषं सन्मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण । परोक्ष प्रिया इव हि देवाः । तदग्निना पर्य्यादधुः । तन्मरुतोऽधुन्वन् । तदग्निर्न प्रच्यावयत् । तदग्निना वैश्वानरेण पर्य्यादधुः । तन्मरुतोऽधुन्वन् । तदग्निर्वैश्वानरः प्राच्यावयत् । तस्य यद्रेतसः प्रथममुद दीप्यत तदसावादित्यो भवत् । यदद्वितीयमासीत् तद्भृगुरभवत् तं वरुणोन्यगृह्णीत, तस्मात् स भृगुर्वारुणिः ॥ अथ यत् तृतीय मदीदेदिवत् त आदित्या अभवन् । येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवत् । यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद्बृहस्पति रभवत् । यानिपरिक्षाणान्यासन्—ते कृष्णाः पशवोऽभवन् । यालोहिनीमृत्तिका तेरोहिताः । अथ यद् भस्मासीत् तत्परुष्यंव्य-

सर्पत्—गौरोगवय ऋश्यउष्ट्रो गर्द्धभइति। येचैतेऽरुणाः पशवस्तेच । तान वा एषदेवोऽभ्य-वदत—ममवाइदं, ममवै वास्तुइम् इति ॥

एतच्चाख्यानम्—कृत्तिकातोऽनुप्राचीं, लुब्धकादनुप्रतीचीं, शशलाञ्छनाच्चन्द्रमसः श्वभ्यां चानूदीचीं, प्रजापतेःपुनर्वसुभ्यां चान्ववाचीं यावान्द्युप्रदेशः—तत्रत्याभीरोचनाभिः क्लृप्तानां देवसत्वानां संबन्धेनाख्यायते। तत्रद्यु प्रदेशोपलक्षितां रोहिणींनाम प्राजापत्या मधिकृत्याख्यानि-काःप्रवर्तन्ते। उषः कालोपलक्षिता मौषसींनाम प्रजापत्या मधिकृत्यतुनंदानिकाः। तदेतत् पश्य-नृषिरभ्यनूवाच "दिवमित्यन्ये आहुरुषसमित्यन्ये" इति ॥ तत्रदिवंतावद्व्याख्यास्यामः ॥

अस्ति हि कृत्तिकातः प्राच्यां ज्योतिष्मती तारा, सा लोहिनीदृश्यते तस्माद्रोहिणीनाम ॥१॥ अपिच—एतां तावदाख्यानिका भृगूत्पन्नां लक्ष्मीमाचक्षते कमलाम्। तस्याः समसंमुखे तु दक्षिणा-काशे षड्भान्तरे तादृशीमेवान्यां ज्योतिष्मतींतारां पश्यामः। सा ज्येष्ठा सा दरिद्रा सा धूमावती। ते चोभे रोहिण्यौ भवतः। ज्येष्ठार्द्धाद्रोहिणीपर्यन्तं हि चन्द्रमाउदारोहति। उदारोहन् खलु लोके लक्ष्म्या संबद्ध्यते। एवं मृगशीर्षा ज्ज्येष्ठार्द्धं पर्य्यन्तं वृश्चिकस्याम वरोहइति। अवरोहंश्च सर्वः खल्व लक्ष्म्यासंबद्ध्यते। लक्ष्म्यलक्ष्म्योर्हिरोहणमेवरूपम्। तस्माज्ज्येष्ठाचेयंरोहिणीनाम ॥ २ ॥ अपिचैतत्तारोपलक्षितायां दिविरोहितमृगस्यस्त्री-जातेरूपंकल्प्यते तस्माद्वियंरोहिणीनाम ॥ ३ ॥ सा पूर्वं मानुषाकृतिः सती पश्चाद्रोहिदाकृतिः समपद्यत। तस्याःपिता ब्रह्महृदयाख्यतारोपलक्षितशरीरः प्रजापतिर्नामैशान्यामवलम्बते। प्रजापतिरित्यजमेषादिपशुचारणवृत्तेः शूद्रजातेः संज्ञालोके। तं च व्यभिचारेच्छयारोहिणीम-नुसर्पन्तं दृष्ट्वा द्यु मन्डलस्था रोचनाक्लृप्तमूर्तयोदेवसत्वाः प्रकुपिताः क्षुब्धाइवभूत्वा प्रजापति-पुत्रमेतं मृगव्याधंनामरुद्रं विभिन्नानेकतेजोभिः कृतात्मानं महाघोरं संस्कृत्य तद्द्वारा पापकृतः प्रजापतेर्मृगस्य शिरश्छेदयामासुः। तदिदं मृगशिरो बाणसंलग्नमिव दक्षिणतोदृश्यते। प्रजापति-स्तुछिन्नशीर्षातदुत्तरतः पतितोदृश्यते। अथ रोहिणीं च बाणंचान्तरा प्रजापते रेवास्यरेतोभि-र्विच्युतैः सरः समभवन्मानुषंनाम। तच्चार्द्धत्रिषुवतो दक्षिणस्या मर्द्धमुत्तरस्यां संस्रवति। तस्योत्तरतःसंलग्नेवाग्निर्नाम तारा। तत्संयोगात् प्रच्यवमानस्य रेतसो य एकोद्रप्सः प्रज्वलति यश्च-द्वितीयः ते उभेपुनर्वसूनामद्वेतारे। तत्र पश्चिमादित्योनाम, पूर्वाभृगुर्नाम। भृगुश्चायमृषिप्राणः। सजातीयप्राणमात्रे निरूपे चायमृषिशब्दोरूढः। न चान्तरेण विजातीय सम्बन्धमस्य चक्षुर्ग्राह्य-ता संभाव्यते अत आह-स भृगुर्वारुणिरिति। वरुणोऽसुरः। तेनायंसंगृहीतः। यद्यपिऋषिनाम्ना-प्रसिद्धाः सर्वा एव दिविरोचना अवश्यमल्पेनाधिकेन वा देवानां रेतसायुज्यन्ते-चक्षुर्ग्राह्यत्वान्यथा नुपपत्तेः। तथाप्यसुरोदेवोभृगुमेव निगृह्णाति नान्यानिति विशेषाभिधित्सया मृगैवारुणि शब्दः। अथान्यालुब्धकवन्धुं यावत्संस्थितास्तिस्रस्तारा वक्रदण्डवदाभासमाना आदित्याः। तदन्यास्त्वति-

सूक्ष्मा दृश्यादृश्या: सर्वास्तत्र तारा अङ्गिरस:। ता स्वयमेक: प्रदीप्तोलुब्धकस्सन्धुर्बृहस्पतिर्नाम। अथ मृगव्याधं रोहिणीं चान्तरेणानेकजातीया: पशवो दृश्यन्ते रेतसां विकारभूता:। तेषां पति: पूर्वं प्रजापतिरासीत्। तस्यैतदाधिपत्यं विजित्य स भूतपतिर्मृगव्याध: पश्चात् पशुपतिर्नामाभूत्। तदित्थमेतैराख्यानानायकानामृषिदैवतपशूनां रूपै: सर्वा अन्यत्यागतारका: नामत: स्वभावतश्च संगृहीता विज्ञायन्ते। विशेषतस्तु नक्षत्रविद्यायां द्रष्टव्यमिति दिक्॥

अथैतस्मिन्नाख्याने सुरक्षितं विज्ञानमाख्यास्यामो निदानेन। या तावदियमौषसी सोषा:; अस्ति च द्वादशसु प्रजापतिष्वेको द्यौर्नाम स हि सर्वस्य पिता श्रूयते 'द्यौ:पिताजनिता" "द्यौ: पित: पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृडतान:। विश्वेदेवा अदिते सजोषा आमभ्यं शर्म बहुलं वियन्त" इत्यादिमन्त्र वर्णात्। ततो हीयमुषा उत्पद्यते तस्मादियं तस्य दुहितेव तथा च श्रूयते—

"एषा दिवोदुहिता प्रत्यदर्शिव्युच्छन्ती युवति: शुक्रवासा:।
विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्वउषो अद्येह सुभगे व्युच्छ" इति (१मं.१६अ.११३सू.७ऋ.)
"एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शिज्योतिर्वसाना समनापुरस्तात्। ऋतस्य पन्था मन्वेति साधुप्रजनतीव न दिशोमिनाति"॥ (१ मं० १८ अ० १२४ सू० ३ ऋ०) इति च
यत्तु—'एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिव:। स्तुषे वामश्विनावृहत" (१।६।४६।१)
इति मन्त्रे प्रिया शब्द: श्रूयते सोऽपि श्रुत्यन्तरैकवाक्यतया दुहितृपरएव। तस्या अपि प्रियत्वा विशेषात्। तामनुसोऽन्य: प्रजापतिरभ्येति। य एष ऋतूनां भूतानां पति: संवत्सरो नाम। स हि सूर्य्यायतन:। सूर्य्यो हि नित्यमुषसंपृष्ठत: समन्वा भक्त उदेतीत्युषसास्य व्यभिचार उत्प्रेक्ष्यते यदाह मन्त्र:—"सूर्य्यो देवी मुषसंरोचमानां मर्य्यो न योषामभ्येति पश्चात्" इति॥

अथ येत्वाहु:। एकएव प्रजापति:। तस्यद्वादशैतास्तनव: श्रूयन्ते—अग्निरन्नादानाम। आदित्योऽन्नपत्नीनाम। सोमोभद्रानाम। पशव: कल्याणीनाम। वायुरनिलयानाम। मृत्युरपभयानाम। पृथिवीअनाप्तानाम। द्यौरनाप्यानाम। अग्निरनाधृष्यानाम। आदित्योऽप्रतिधिष्या-नाम। मनोऽपूर्वानाम। संवत्सरोऽभ्रातृव्यानामेति। एतावाव द्वादशप्रजापतेस्तन्व:। एवञ्चत्न: प्रजापतिरितिश्रुते:। तेषामप्येतामुषसं भिन्नशरीरो जनयति। भिन्नशरीरश्च तामभ्यैति इति बोध्यम्॥

सउषसिरेतोऽसिञ्चत्। सोऽग्निमेवाभिन्नेतद्वैश्वानरं रेतोभूतमसिञ्चत्। स संवत्सरे कुमारोऽजायत। सोयंऽप्रजापते: पुत्र:। तस्यैता अष्टौमूर्तयोभवति—अग्निश्च आपश्च, ओषध-

यश्च, वायुश्च, विद्युच्च, पर्जन्यश्च, चन्द्रमाश्च, आदित्यश्चेति। तस्यैतानि क्रमेणनामानि—रुद्रः, शर्वः, पशुपतिः, उग्रः, अशनिः, भवः, महादेवः, ईशान इति भगवान् याज्ञवल्क्यः प्राह॥ परेत्वोषध्या विद्युतः पर्जन्यस्य च स्थाने पृथिवी माकाश मात्मानंच संनिवेश्यतेषांनामकरणेऽपि कश्चिद्व्यत्यास मिच्छन्ति। तद्यथा—रुद्रोऽग्निमूर्तिः, भवो जलमूर्तिः शर्वःक्षिति मूर्तिः उग्रो वायुमूर्तिः, भीम आकाशमूर्तिः, पशुपतिर्यजमानमूर्तिः, महादेवःसोममूर्तिः, ईशानःसूर्य्यमूर्तिरिति। तान्येतान्यष्टावग्निरूपाणि। स चित्रोऽग्निः। कुमारस्तेषां नवमः। स एतान् पञ्चपुरुषाश्वगवाव्यजान् पशून् प्राविशत्। भूपृष्ठे उत्पन्नादूर्वौषधिवनस्पति प्राणिशरीरात्मकः पशवः। तइमे पशवोऽग्निः। तेनाग्निना पशुभिर्यज्ञः संपद्यत। स यज्ञः कृष्णमृगचर्म्मकृतरूपः प्रजापतिः। सोऽयमादित्यः। तस्यधन्वना शिरश्छिन्नंपपात। स एषघर्म्मोनाम। अथेतरः प्राङेव प्रावृज्यत। स प्रवर्ग्यः। स एष महावीरः। तस्य यो रसोव्यक्षरत् स सम्राट्। तत्र धर्म्म एष तपति सैषा श्रीः सत्यं ज्योतिश्च। अथ प्रवर्ग्य एष तपति स संवत्सरः। तस्यैवास्य प्रजापतेः संवत्सरस्य रेतोभिरिमेमानुषाः प्राणाजायन्ते सर्वे च पशवो भूतानि। तत्र ये हैते मनसा सम्पन्नाः प्राणास्ते मानुषा नाम। अथ पृथिव्युक्थाः पृथिवी प्रथिष्ठाः पृथिवी परायणाः येऽश्मलोष्टादय एकप्राणा निःसंज्ञा निश्चेष्टाः, ये च दूर्वादयो द्विप्राणा अन्तःसंज्ञा अबुद्धिकृत चेष्टाः, ये वा सरीसृपादयस्त्रिप्राणा आविःसंज्ञा बुद्धिपूर्व चेष्टाश्चेह दृष्टयोग्या अयोग्याश्च भूतविकारा संलक्ष्यन्ते त इमे सर्वे पशवो नाम। तानीमानि भूतानि। तेषामयमेवानेक रूपः कुमारो महावीरः पतिरिति, स एवोच्यते भूतपतिश्च पशुपतिश्च। इदं च सर्वं प्राजापत्यं रेतो वैश्वानरेणाग्निना संपृष्टं प्रज्वलिति। तस्य प्रज्वलतोऽर्चिषि भृगुः संबभूव। अङ्गारेष्वङ्गिराः संबभूव। तस्यावशान्तस्य पुनः प्रज्वलने येऽङ्गिरसो लक्ष्यन्ते त इमे बृहस्पत्यादयो नाम। स एवा वानिह कुमारश्चित्र पशूनामग्नि विशेषाणां विज्ञानांशः समुद्ध्रियते।

विस्तरतस्त्वमुमर्थं भाववृत्तादि प्रकरणविशेषेऽन्यत्र यथायथमनुबर्तयिष्यामः॥ तत्र यद्यप्यनयोराख्यान विज्ञानयोर्नाद्धा सामञ्जस्यमुपपद्यते पृथग्वर्त्मत्वादुभयोः। तथाप्यन्य वैज्ञानिकार्थ स्मारकत्वमवश्यमाख्यानस्य संभवतीति संतोष्टव्यम्॥

———

अथ विद्धिनो भरद्वाजस्योत्पत्तौ शौनकः प्राह—

त्रिसांवत्सरिकं सत्त्रं प्रजाकामः प्रजापतिः।
आहरत् सहितः साध्यैर्विश्वेदेवैः सहेति च॥ १॥

तत्र वाग्दीक्षणीयायामाजगामाशरीरिणी ।
तां दृष्ट्वा युगपत्तत्रकस्याथ वरुणस्य च ॥ २ ॥
शुक्रं च स्कन्दतद्वायुरग्नौ प्रास्यद्‌ यदृच्छया ।
ततोऽर्चिभ्यो भृगुर्जज्ञे अङ्गारेभ्योऽङ्गिराऋषिः॥ ३ ॥
प्रजापतिं सुतौ दृष्ट्वा हृष्टावागम्य भाषत ।
आभ्यामृषिस्तृतीयोऽपि भवत्वत्रैवमेसुतः ॥ ४ ॥
प्रजापतिस्तथेत्याह भाषमाणां तु भारतीम् ।
ऋषिरत्रिस्ततो जज्ञे सूर्यानल समद्युतिः ॥ ५ ॥
योऽङ्गारेभ्यऋषिजज्ञे तस्य पुत्रो बृहस्पतिः ।
बृहस्पतेर्भरद्वाजो विदथीति य उच्यते ॥ ६ ॥
मरुत्स्वासीद्‌ गुरुर्यश्च स एवाङ्गिरसोनपात् ।
स पुत्रस्य तु तस्येदं मण्डलं षष्ठ मुच्यते ॥ ७ ॥ इति ॥

पूर्वं तावदेकत्र दिवि सिक्ताद्रेतसो भृग्वादीनामुत्पत्तिरुक्ता, अन्यत्र पुनरुषसि सिक्तात् । अथेदानीं वाचि सिक्ताद्रेतसस्तेषामुत्पत्तिराख्यायते । अस्ति हि सर्वजगद्व्यापी सूक्ष्मो निराकारः कश्चिदापोमयोऽर्थः समुद्र इव पृथिवीं परितः सरस्वान्नाम । स इन्द्र इत्येके, वरुण इत्येके । अथवा सृष्ट्यादौ तमसागूढे तमोभूते सर्वस्मिन्नशनायया कश्चिदग्निः स्वयम्भूः प्रादुरभूत् । तत्सम्बन्धादेव प्रच्यावितं सर्वमिदमापोऽभूत् । तेनेदमुभयं भवति सर्वमग्निमयं सर्वमापोमयं जगदिति च । तत्र यावदग्निमयं स इन्द्रः । यावच्चापोमयं स वरुणः । उभयोऽपि समं व्यापकः । तस्मिन् कचिदाहते तदाघातस्थानात् सर्वतो दिशं वीचयः प्रभवन्ति । सेयं सरस्वति सम्पद्यमाना वीचिधारैव सरस्वतीनामोच्यते । सरस्वती हि श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्यतामापद्यते न सरस्वान् । सा वाक् । तामभिलक्ष्यैव श्रूयते—"अथो वागेवेदं सर्वम्" इति । इमामेव च वाचं नित्यामपौरुषेयी वेदत्रयी माचक्षते महर्षयः । तस्या यथा वेदत्रयीत्वं तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः । अस्यामेव च वाचि संवत्सराग्नेर्वरुणस्य च रेतसोः प्राची प्रतीचीभ्यामागत्य संयुक्तयोर्वैश्वानराग्नियोगाद् वर्ष त्रयान्ते प्रच्यावनादर्चिरुत्पद्यते । अत्र वर्षत्रयकाल उपलक्षणं स्वस्वतपनकालस्य । तेन यत्र कुत्रापि वा लोके समुत्पद्यमानमिदमर्चिर्दृश्यते । तत्र सर्वत्रायंन्यायो द्रष्टव्यः । तेषु यावानत्र संवत्सराग्नौ वैश्वानरोऽग्निः । सोऽङ्गिराः । सोऽङ्गारेषु लक्ष्यते । यावांस्तुवारुणो भागः स भृगुः

सोऽर्चिषि लक्ष्यते । अथ यावानत्र वाचो भागः सोऽत्रिर्नाम अस्यैव च वाच्यप्राणस्यात्रिसंज्ञस्य सम्बन्धादापन्नसत्ताया: स्त्रिया आत्रेयी संज्ञा। तदित्थं संवत्सरस्य प्रजापते रेतसा तदन्यान्यत रेतो योगात् त्रय: प्राणाजायन्ते—अङ्गिराः, भृगुः, अत्रिश्चेति ॥

अथ कश्यपः ।

अथ कश्यपं व्याख्यास्यामः । कश्यपः कूर्म इत्यनर्थान्तरम् । तत्रेयं श्रुतिर्भवति—

"रसो वै कूर्मः । यो वै स एषां लोकानामप्सु प्रविद्धानां पराङ् रसोऽत्यक्षरत् । स एष कूर्मः । यावान्नु वै रसस्तावानात्मा । स एष इम एव लोकाः । तस्य यदधरं कपालम्—अयं स लोकः । तत्प्रतिष्ठितमिव भवति । प्रतिष्ठित इव ह्ययं लोकः । अथ यदुत्तरं सा द्यौः । तद्व्यवगृहीतान्तमिव भवति । व्यवगृहीतान्तेव हि द्यौः । अथ यदन्तरा तदन्तरिक्षम् । स एष इम एव लोकाः । तमभ्यनक्ति दध्ना मधुना घृतेन । दधि हैवास्य लोकस्य रूपं, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य । दधि हैवास्य लोकस्य रसो, घृतमन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य । स यत्कूर्मो नाम । एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत । यदसृजत—अकरोत्तत् । यदकरोत्—तस्मात्कूर्मः । कश्यपो वै कूर्मः । तस्मादाहुः—सर्वाः प्रजाः कश्यप इति । स यः स कूर्मः—असौ स आदित्यः । प्राणो वै कूर्मः । प्राणो हीमाः सर्वाः प्रजा करोति । द्यावा पृथिव्यो हि कूर्मः । अवका अधस्ताद् भवन्ति, अवका उपरिष्टात् । आपो वा अवकाः" इति ॥

इह हि कश्यपस्य द्यावापृथिवीभ्यामभिसम्बन्धो लभ्यते । द्यावा पृथिवी शब्दस्य च प्रवृत्तिर्यद्यपि दृश्यकपालाण्डकपालायतन सामशुक्रभेदात् पञ्चलक्षणा रहस्ये व्याख्याता, तथाप्यत्र संभवतो दृश्यकपालानुगते एव ते गृह्येते । तल्लक्षणं च श्रूयते-हविर्यज्ञब्राह्मणे—"तद्वा एष एव वषट्कारो य एष तपति । स उद्यन्नेवा भूमधि द्रवति, अस्तं यन्निमामधि द्रवति । तस्या अमुष्या अवस्तात्लक्ष्म—चन्द्रमा नक्षत्राणि सूर्यः । अथोपरिष्टाल्लक्षणा पृथ्वी । तस्या अस्या उपरिष्टाल्लक्ष्म—ओषधयो वनस्पतय आपोऽग्निरिमाः प्रजाः" इति ॥ अयमत्राभिसन्धिः । क्वचित्प्रान्तरे निरावरण प्रदेशेऽवस्थाय द्रष्टुः सर्वतः समतलमण्डलात्मकाधः कपालरूपया पृथिव्या संलग्नावनत प्रान्तोन्नत मध्योद्धर्वं कपाला नीलवर्णा हीयं द्यौ र्दृश्यते । तथा च विसदृशकपालद्वयात्मिका सेयमुभयो द्यावापृथिवी सर्वस्यैतस्य दृश्य प्रपञ्चस्यावपनभूता भवति । तयोरूर्ध्वाधरकपालयोरन्तरतो यदावपनं तदन्तरिक्षम् ।

तथा चैतत्कपालद्वयावच्छिन्नं यदन्तरिक्षं तदवच्छिन्नो यः प्राणघनः स कूर्म्म इत्याह द्यावा पृथिव्यो हि कूर्म्म इति॥ यावदेव हि द्रष्टृदृश्यतेऽन्तरिक्षं तदवच्छिन्नः प्राणघन एव तत्र सन्निधत्ते। तद्देशे जायमानस्तावतैव प्राणघनेन कृतात्मा भवतीत्यतस्तस्य कूर्म्मशब्देन व्यपदेशः। कश्यपाकृतिश्च स नित्यं दृश्यते तस्मादसौ लक्षणया कश्यपशब्देनापि व्यपदिश्यते। यद्वा यथाकृतिः कश्यपस्तथाकृत्या सन्निविष्टः प्राणः कश्यपो वेदितव्य इत्युक्तं भवति। कश्यप इति च कच्छप इति वा कमठ इति वा प्रसिद्धे पशुविशेषे रूढः। कशामर्हति कश्यः स्कन्धाधस्तलदेशः कच्छ इति प्रसिद्धः। तेन पिबतीति व्युत्पत्तेः। इत्थं चाकृतिसाधर्म्याद् द्यावापृथिव्ये कूर्म्मे कश्यपशब्दस्य, कश्यपे च तस्मिन् पशौ कूर्म्मशब्दस्य व्यतिषङ्गेन प्रवृत्तिः। अथवा मुख्ययैव वृत्या कश्यपशब्दः कूर्म्मे वर्तते। श्रूयते हि—कश्यपः पश्यको भवतीति। वर्णव्यत्यासेन च शब्दसिद्धिं नैरुक्ता मन्यन्ते। द्रष्टृदृश्ययोरन्योन्यसाममण्डलभोगादेव दर्शनसम्पत्तेर्दृश्योऽपि द्रष्टारं पश्यति साम्येनेति नियमाद् दृष्टिसिद्धस्यास्य द्रष्टृत्वोपपत्या पश्यकत्वसिद्धिः। यत्तु वैयाकरणा आहुः—पशिरयमादेशो न धातुः। स चापि सार्वधातुकविषयो नार्द्धधातुके प्रयोगमर्हतीति। तत्तुच्छम्। व्याकरणस्य सिद्धशब्दप्रतिपत्तावभ्युपायत्वेऽपि शब्दनिर्म्मापकत्वाभावात्। शब्दपरतन्त्रं हि व्याकरणं न त्विमे व्याकरणपरतन्त्राः शब्दा इष्यन्ते। भाषाव्यवहारो हि व्याकरणे प्रमाणं भवति। तस्मिंश्च प्रमाणे दृष्टे न दृश्यते लक्षणं चेत् तद्कात्स्न्र्यं व्याकरणस्य मन्यामहे। दृश्यते तु पश्यतेर्धातोरार्द्धधातुकेऽपि क्वाचित्कः प्रयोगः—पशुरिति पश्यक इति। पश्यकं सन्तं कश्यप इत्याचक्षते परोक्षेण। स हि दृश्यकपालस्थो नित्यं सर्वाः प्रजाः पश्यतीत्यत एव श्रूयते—अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वेति। अथवा दूरस्थस्यापि सतो यदनया प्रजया नित्यं सम्बन्धस्तत्रेष्यते दृष्टिव्यवहारः। यथा हि—"आ देवो याति भुवनानि पश्यन्" इति मन्त्रे सूर्य्यस्य द्रष्टृत्वं व्यवह्रियते तद्वत्। तेन दृश्यकपालस्थो द्रष्टा प्राणघनः कश्यप इति सिद्धम्॥

नानाजातीयाश्चैते प्राणा भवन्ति। तेष्वयं काश्यपः किं जातीय इत्यत्राह यः स कूर्म्मः—असौ स आदित्य इति। यस्य विभक्तयो द्वादशादित्या उच्यन्ते स एषां प्रजापतिः संवत्सरो नाम प्राण एवादित्यः। स सूर्य्यायतनो विभुः। तत एव संवत्सरादादित्यामादित्या उत्पद्यन्ते दित्यां दैत्याः। ते हैते कश्यपस्य पत्न्यावुपचर्य्येते सहधर्म्मित्वात्। तत्र तावदियमदितिः समसंमुखयोः पृथ्वीसूर्य्ययोरनवरोधेन संस्थानम्। तद्विरोधेन च सूर्य्यस्य पृथिव्यवरोधेन संस्थानं दितिर्नाम। सूर्य्याभिमुख्येन सूर्य्यज्योतिषि सतां पृथिवीस्थानामम्भसां देवानां, तत्प्रातिमुख्येन चात्र पृथिव्यां तमसि देवविरोधिनामम्भसामसुराणामवस्थानात्तथा प्रतिपत्तेः। इत्थं च सूर्य्यमण्डलोपलक्षि-

तेयमदितिर्दर्शिता ॥१॥ अथ भूमण्डलोपलक्षितामेके तामाहुः। तेषां सर्वत्रैवाण्डकपालस्यार्द्धस्य दृश्यत्वमदितिरर्द्धस्य चान्तस्यादृश्यत्वं दितिः। तेनैतस्याः क्रमेण प्राचीमनुसरन्त्या रात्रावपि सत्तोपपद्यते। उक्तरीत्या सूर्य्यनित्यायाः स्थिरादित्या अभ्युगमे तु—"अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि। देवाँ उपप्रैत् सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यात्"। सप्तभिः पुत्रैरदितिरुपप्रैत् पूर्व्यं युगम्। प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत"। इति मन्त्रद्वयोक्तयोः सूर्य्यत्यागपुनराहरणयोरसम्भवापत्तेः। तथा चैतस्याः सर्वां पृथिवीं सर्वां दिवं, सर्वं चान्तरिक्षं संसर्पन्त्याः सर्वात्मकत्वं सम्पद्यते। तथा च श्रूयते—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः। विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्—इति। इयं वै पृथिव्यदितिः—इति च ॥ २ ॥

अथान्ये पुनरेकस्मिन् संवत्सरे सूर्य्येण त्रयोदशकृत्वश्चन्द्रमण्डलसंयोगात्तदुपलक्षितासु त्रयोदशसु दाक्षायणीषु कश्यपपत्नीत्वेनाध्यवसितासु नित्यामेव कांचिदचलामदितिमाचक्षते। तदायतनं श्रूयते—

"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददेनाऽस्यसि"–इति। स्वातीतारकोदये रेवत्यामस्तंगतायामनस्तंगतायां चाश्विनीतारकायां यः स्वस्वस्तिकविन्दुश्चन्द्रमार्गस्थः सा ह्रीयमदितिर्नाम। तेन पुनर्वसुनक्षत्रस्य तृतीयचरणमदित्याः स्थानं सुप्रतिपन्नं भवति। तस्यैव तदानीं खस्वस्तिकभूतत्वात्। तद्वैपरीत्ये च निचृत्तारासन्नविन्दोर्दितित्वमास्थेयम्। तस्यैव तदानीमधःस्वस्तिकत्वात्। अन्याश्चैवमेकादशमिता दक्षविभक्तयः कश्यपस्य सहयोगिन्यः कल्प्यन्ते तदन्यत्र निरूपितम्। ताभिस्त्रयोदशभिर्वा द्वाभ्यामेव वा दित्यदितिभ्यां संयुज्यमानः स संवत्सरो नाम सर्वेषां जनयिता प्राणो यया संस्थया सर्वमिदं यथायथं जनयति तादृशसंस्थावच्छिन्नः कश्यप इत्युच्यते इति सिद्धम् ॥

स एष प्राणो नान्तरेण भूतसम्बन्धमनाश्रितः क्वचिदवतिष्ठते–इत्यत आह–अवका अधस्ताद् अबन्त्यवका उपरिष्टादिति। अप्सु ह्येष कश्यपः प्रचरति तस्यावस्तादुपरिष्टाच्चापो भवन्ति एवमयं प्राणो नित्यमद्भिः सम्पद्यमानः प्रचरति। ताश्चैता आपश्चतुर्विधा ऐतरेय के श्रूयन्ते—"अम्भो मरीचयो मर आप इति। "अदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठा। अन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरः। या अधस्तात् ता आप"–इति। तत्रैष कश्यपो मरीचिभिः क्लृप्तशरीरो भवति। अत एवैनं मरीचिसुतं मारीचमाहुः पौराणिकाः। मरीचयश्चैताः सवित्राकृष्टाः सूर्य्यरश्मिस्था आपः। "सूर्य्यो मरीचिमादत्ते सर्वस्माद्भुवनादधि" "एता वा आपः स्वराजो यन्मरीचयः"

इत्यादिश्रुतेः। ताश्चैता मरीचयो लोकेभ्यस्त्रिभ्यः समाकृष्टैर्दधिघृतमधुभिः संश्लिष्य रसमय्यः सम्पद्यन्ते। या अधस्तादपां ता घनीभूतत्वाद्दधिमय्यः मध्ये च द्रवाः स्निग्धा घृतमय्यः, अथ या उपरिष्टात् ता विरलावयवाः स्वादिष्ठाः मधुमय्यः। एतानेव रसाननवरतं सिञ्चन्नसौ भगवान् कश्यपात्मा प्राणः सर्वमिदं चराचरमेतैरेव रसैः कृतशरीरं जनयति। सर्वेषामेव प्राणिनां शरीराणि दध्ना घृतेन मधुना चोत्पद्यन्ते। कठिनप्रायैर्द्रवप्रायैः पवनप्रायैश्चाङ्गैः सम्पन्नत्वात्। मांसेन श्लेषणीयवसारसेन शर्कराभिः स्पष्टमुपपन्नत्वाच्च। पुनश्चैतानुपाहरन्नात्मसात्कुर्वन् स एतत्त्रिरसमय एव सर्वदारूपं धत्ते। तदाह—"यावानु वै रसस्तावानात्मा" इति। स यावदस्मिन् दधिरसस्तावानयं लोकः॥ यावद् घृतरसस्तावदन्तरिक्षम्। यावद्वा तस्मिन् मधुरसस्तावानसौलोकः। तदाह—"स एष इम एव लोकाः" इति। अत एव त्रयो रसा अद्भ्यः शरीरनिर्माणे साधनद्रव्यम्। तैरेव रसैः कृतशरीरः सर्वः शरीरेण संयुज्योत्पद्यते इत्यत आह—"सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः" इति। कश्यपेनोत्पादिते वशिष्ठादिभिर्विशेषा आधीयन्ते। स एष जनकः सर्वेषां देवमनुष्याणां तिरश्चां च भूतानाम्। तदित्थमयं सर्वजनको रसत्रयात्मा मारीचोऽर्द्धमण्डलाकारः संवत्सरप्राणघनः कश्यप इति निष्कर्षः॥

तमेतं कूर्म्मं कश्यपं पश्यन् ऋषिरभ्यनूवाच—

अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्य्योऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः।
अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्व अनु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम्॥१॥
त्रीन् समुद्रान् समसृपत् स्वर्गानपां पतिर्वृषभ इष्टकानाम्।
पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेताः॥२॥ इति
"एतद्वापां गम्भिष्ठं यत्रैष एतत्तपति। इमा वै सर्वाः प्रजास्ता अरिष्टा अनार्ता अनुवीक्षस्व। इमे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गा लोकाः। तानेष कूर्म्मो भूत्वाऽनुसंससर्प। पशवो वै पुरीषम्। पशून्वसानः"

इति हि तद्ब्राह्मणं भवति॥ अपि च—

"कश्यपस्य स्वर्विदो यावाहुः सयुजाविति। ययोर्विश्वमपि व्रतं यज्ञं धीरा निचाय्य"

इतिमन्त्रवर्णः श्रूयते।

तत्र द्यावापृथिव्यो र्वा मित्रावरुणयो र्वा सयुक्त्वं द्रष्टव्यम् । ज्योतिर्विदां समये तूत्तर। स्वर्गमण्डले भवत्येका काश्यपतारा द्वाभ्यां ताराभ्यां संयुक्ता ।

"अग्निः पुच्छस्य प्रथमं काण्डं तत इन्द्रस्ततः प्रजापतिरभयं चतुर्थम्"

इतिश्रुतावपि कश्यपस्यैव प्रजापतिशब्देनाभिधानमितिदिक् ॥

कौशिकः ।

अथ कौशिको व्याख्यायते । तत्राह कात्यायनः

"कुशिकस्त्वैषीरथिरिन्द्रतुल्यं पुत्रमिच्छन् ब्रह्मचर्यं चचार । तस्येन्द्र एव गाथी पुत्रोजज्ञे । गाथिनो विश्वामित्र" इति

"एतेनेन्द्र एवायं कौशिक इति लभ्यते । स चेह प्राण एव ।

स योऽयं मध्ये प्राणः एष एवेन्द्रः" इति श्रुतेः प्राणेऽपीन्द्रशब्दस्य प्रयोगात् । स एव वाङ्मयः सन् विश्वामित्र इत्युच्यते तथा चोक्तमैतरेयारण्यके —

विश्वामित्रं ह्येतदहः शंसिष्यन्तमिन्द्र उपनिषसाद । स हान्नमित्यभिव्याहृत्य त्रिवृं हतीसहस्रं शशंस । तमिन्द्र उवाच—ऋषे । प्रियं वै मे धामोपागाः, वरं ते ददामीति । सहोवाच—त्वामेवजानीयामिति । तमिन्द्र उवाच । प्राणो वा अहमस्मि ऋषे । प्राणस्त्वं प्राणः सर्वाणि भूतानि । प्राणो ह्येष य एष तपति ! स एतेन रूपेण सर्वा दिशो विष्टोऽस्मि । तस्य मेऽन्नं मित्रं दक्षिणं तद्वैश्वामित्रम् । एष तपन्नेवास्मीति होवाच । तद्वा इदं बृहतीसहस्रं सम्पन्नं । तस्य षट् त्रिंशतमक्षराणां सहस्राणि भवन्ति । तावन्ति शतसम्वत्सरस्याह्नां सहस्राणि भवन्ति । तस्य वा एतस्य बृहतीसहस्रस्य सम्पन्नस्य परस्तात् प्रज्ञामयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः संभूय देवता अप्येति य एवं वेद । तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम् । तदुक्तमृषिणा सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेति" ॥

अस्यायमभिसन्धिः। महाव्रताख्ये कर्म्मणि माध्यन्दिने सवने निष्केवल्यं नाम शस्त्रं पठ्यते। ❀ तत्र पाठ्यानां नानाच्छन्दस्कानां मन्त्राणामक्षराणि षट्त्रिंशत्सहस्राणि भवन्ति। अक्षरैः प्रमितानां च प्राणानामप्येवं तावती संख्या संपद्यते। एकैकेन चाह्ना प्रमितानां प्राणानां सूर्य्यादुत्थितानां सूर्य्योदयास्तपरिच्छिन्नानां तावती संख्या शतसंवत्सरेषु दृश्यते। तथा च शतसंवत्सरात्मकपुरुषायुषोपपाद्या आह्निकाः प्राणास्त्वेतेन शस्त्रेण शंसिता भवन्ति। तावतां च प्राणानां य एको घनः स बृहतीसहस्रात्मक एवेह विश्वामित्रो नामेन्द्रः प्राणः। तत्र च गायत्री तृचाशीतिः बार्हती तृचाशीतिरौष्णिही तृचाशीतिरिति तिस्र एता अशीतयः क्रियन्ते। तावता सप्तशतानि विंशतिश्चाहोरात्राणि संपद्यन्ते सांवत्सरिकाणि तदिदमैन्द्रं धाम। तावतैव षट्त्रिंशत्सहस्राणि सम्पाद्यन्ते। तत्र या एतास्तिस्रोऽशीतयः क्रियन्ते तदेतदन्नं त्रिरभिव्याहरन्ति। अन्नमशीतय इत्युक्तेः। तदेतदन्नाभिधायिशब्दाभिहितया संख्यया त्रिरभिव्याहरणादन्नवतां संवत्सराहोरात्राणामिन्द्रप्रियधामत्वं व्याहृतं भवति। अन्नवानिन्द्रः प्रसन्नात्मा संपद्यते इत्यर्थः।

❀ ३ गायत्री ७२	३ गायत्री ७२	३ गायत्री ७२	३६००० आयुर्दायांशाः
३ बृहती १०८	३ बृहती १०८	३ बृहती १०८	३६००० शतसंवत्सरस्याहानि
३ उष्णिक् ८४	३ उष्णिक् ८४	३ उष्णिक् ८४	३६००० महाव्रतकर्म्मणि निष्केवल्यशस्त्राक्षराणि
२६४	३ गायत्री ७२	२६४	
४ गायत्री ९६	३ बृहती १०८	(८०) २११२०	मनः प्राणवाङ्मयाः शरीरे आयुर्दायांशाः।
	३ उष्णिक् ८४	१४८८०	
३६०	३ बृहती १०८	३६०००	मनः प्राणवाङ्मया दिवि संवत्सरभागाः।
	३ उष्णिक् ८४		
	७२०		मनः प्राणवाङ्मया यज्ञे निष्केवल्यभागाः।
	१ गायत्री २४		
	७४४		
	(२०) १४८८०		

स एष सूर्य्य एवायं सर्वेषां बाह्यः प्राणो बृहत्या विष्टब्धः प्राणेनैव रूपेण सर्वा दिशो विष्ट इहेन्द्रो विवक्षितः। स एवास्माकं सर्वेषां चराचराणामात्मा। आत्मत्वादेव चैष विश्वेषामेषां मित्रमेव भवति न त्वेव कञ्चन कदाचिदप्येष हिनस्ति तस्मात्स विश्वामित्रो नाम। स एवाध्यात्मं प्रविशन्नायुः सर्वेषाम्। तमेवाराधयितुमुभयोः सन्ध्ययोः सूर्य्यमुपतिष्ठन्ते। सावित्रीं च गायत्रीं वैश्वामित्रीं श्रद्दधानाः प्रजपन्ति। तत्सम्पत्त्या च दीर्घायुषो भवन्ति। उक्तं च—

ऋषयोदीर्घसन्ध्यात्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः – इति॥

ये त्वेतामपथा कुर्वते न ते फलेन सम्पद्यन्ते तस्मात्सर्वाहितोऽहरहः सन्ध्यामुपासीत, तथा चात्मा सुप्रसीदेत् दीर्घं चायुर्विन्देत् इति दिक्॥

एत एव हि सूर्य्यादुत्थिता रश्मिमयाः प्राणाः सूर्य्यं परितोऽनुवर्तमाना वालखिल्या इत्युच्यन्ते। परस्परविलिप्ता इवैकरूप्येण वर्तमाना अपीमे रश्मयो बहुधा भिन्ना विभिन्नदिग्गतयो द्रष्टव्या इत्यर्थमावेदयितुं ते वालखिल्या इत्याख्यायन्ते। तथा च श्रूयते—"प्राणा वै वालखिल्याः। यद्वा उर्वरयोरसंभिन्नं भवति, खिल इति वै तदाचक्षते। वालमात्राद् हेमे प्राणा असम्भिन्नास्तस्माद्वालखिल्या" इति॥ एषां विभागदृष्टिर्यथाविधं विभिद्यते! भवन्ति हि चतुरशीतिसहस्राणि षट्त्रिंशत्सहस्राणि वा वालखिल्याः। त्रीणि शतानि षष्टिश्च वालखिल्याः। सप्त पुरस्तात् सप्तपश्चाद्वालखिल्याः। तथा च श्रूयते-"याः सप्त पुरस्तादुपदधाति य एवेमे सप्त पुरस्तात् प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति अथ याः सप्त पश्चात्। एषामेवैतत्प्राणानामेतान् प्राणान् प्रतिप्रतीन् करोति। तस्माद्यदेभिरन्नमत्तितदेतैरत्येति" इति॥ एवमेवैतेऽध्यात्मं सप्त पुरस्तात् सप्त पश्चात् द्रष्टव्याः, तद्यथा श्रूयते—"चत्वारिदोर्बाहवाणि, शिरो, ग्रीवा, यदूर्ध्वंनाभेस्तत् सप्तमम्। अङ्गेऽङ्गे हि प्राणः। अथ चत्वार्यूर्वष्ठीवानि, द्वे प्रतिष्ठे, यदवाङ्नाभेस्तत्सप्तमम्। अङ्गेऽङ्गे हिप्राणः" इति। एवं विवक्षावशादन्यथाप्येते द्रष्टव्याः। उक्तानामेव प्राणानां संस्थानविशेषप्रतिपत्त्यर्थं वालखिल्यादिभिन्नशब्दैरुपपादनमितिदिक्॥

तदित्थमुक्तान्येतानि मुख्यानां वेदर्षीणां रहस्यानि। अन्ये च तदनुगामिनः केचन वेदर्षयो दृश्यन्ते—१, जमदग्निः, २, अथर्वा, ३. घोरः, ४, प्रगाथः, ५, गोतमः, ६. वामदेवः,

७. उचथ्यः, ८. बृहस्पतिः, ९. संवर्तः, १०. भरद्वाजः, ११. गृत्समदः, १२. कुमारः, १३. वाक् १४. आप्त्याः, १५. वालखिल्याः, १६. ऋभवः। इत्यादयः तेपि तेषां विशेषा एवेत्यन्यत्र विस्तरः ॥

॥ इति वेदर्षिरहस्याधिकारः ॥

अथ वेदप्रवर्तक-ऋषि-अधिकारः ।

तदित्थं प्राणात्मका ऋषयो व्याख्याताः । ते चाप्रत्यक्षा अप्रत्यक्षरूपविशेषा वा धर्म्मा विद्याभिः साक्षात्कृत्य व्यवहारेषूपनीयन्ते स्म । तेषां च साक्षात्कर्तारः प्रथमोपदेशकास्तदुद्भावकतया तद्रूपविशेषोद्भावकतया वा द्रष्टार उच्यन्ते । स्वस्वोद्भावितेषु च तेषु तेषु प्राणेषु ते सिद्धहस्ताः कवयोऽभवन् । यथेच्छं च तस्मात्तस्मात् प्राणाद्देवान् पितॄन् वाऽऽराध्य स्वार्थानीप्सितान् संपादयामासुः । तेषामेषामुद्भावितानां प्राणानामुद्भावकानां च द्रष्टॄणां समान शब्दत्वमिच्छन्ति । तत्रैतदुभयं भवति क्वचित्तावदुद्भावितानां प्राणानां शब्दैरेव तदुद्भावका विद्वांसो व्यपदिश्यन्ते । क्वचिद्वा तद्वैपरीत्येनोद्भावकशब्दा एव तदुद्भावितास्ते प्राणा भवन्तीति । तद्यथा चयनश्रुतौ श्रूयते "प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः । यद्वै नु श्रेष्ठ स्तेन वसिष्ठः । अथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः ॥ १ ॥ मनो वै भरद्वाज ऋषिः । अन्नं वाजः । यो वै मनो विभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः ॥ २ ॥ चक्षुर्वै जमदग्नि ऋषिः । यदेनेन जगत्पश्यति—अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्नि ऋषिः ॥ ३ ॥ श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः यदेतेन सर्वतः शृणोति, अथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्मा च्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः ॥ ४ ॥ वाग् वै विश्वकर्म्म ऋषिः । वाचा हीदं सर्वं कृतं तस्माद्वाग् विश्वकर्म्म ऋषिः ॥ ५ ॥ इत्येवमादिश्रुतयो वहुभिर्निर्वचनप्रकारैः प्राणेष्वेवैतान् वसिष्ठादिशब्दान व्यवस्थापयन्ति तेनैतेषां प्राणेष्वेव मुख्या वृत्तिर्लभ्यते । तदुद्भावकत्वात् प्रथमोपदेशकत्वाच्चैते शब्दास्तद्द्रष्टृषु भक्त्या संप्रतिपन्नाः । तद्यथा—"यां वै देवतामृगभ्यनूक्ता यां यजुः सैव देवता सर्क् । सो देवता तद्यजुः । तद्वै तन्मध्वेवैष तृचो—मधुवाता—ऋतायते—इति । कूर्म्मचितिश्रुतौ तद्देवतानुवाचकतया ऋग्यजुषो र्वाक्ययोस्तद्देवताशब्दः प्रवर्तते—तथैवेह तद्देवतानुवाचकतयैवास्य द्रष्टुरपि तद्देवताशब्दो न विरुध्यते इति बोध्यम् । तान्येतानि तेषां विदुषां यशोनामानि स्युः । यानि त्वेषां यादृच्छिकानि नामानि तानि व्यवहारमप्राप्तानि प्रायेणालुप्यन्तैव । कस्यचित्क्वचित्स्मर्य्यतेऽपि—यथा विदधी विदथी वा भरद्वाज इति ॥ एवं पुरैव प्रतिपन्नाया अपि वाचो देव्या विशेयगुणदर्शनयोगादम्भृणस्य दुहिता काचिदनिर्दिष्टनाम्नी वागित्येवाख्यायतेस्म । एवं जुहूः । एवं दक्षिणा । एवं श्रद्धा । अथ मतमेतत् यादृच्छिकान्येवैतानि तासां नामानि—वाग् जुहू दक्षिणा श्रद्धेति ।

ता: स्वनामग्रैष्येव स्वनामप्रतिपन्नांस्तांस्तान् रागादिधर्म्मान् विशिष्य रूपयामासुरिति ॥ अथो द्भावकशब्दा अपि केचित् प्राणा: श्रूयन्ते—यथा कुमारोऽग्नि: अप्रतिरथ ऐन्द्र: । इहहि कुमारोऽयं ब्राह्मणबालकस्त्रैवृष्णस्य राज्ञो रथचक्राघातान्मृतस्तत्पुरोहितेन दृशेन जानेन पुनरुज्जीवितश्चासीत्। तेन दृष्टत्वादसौ तन्नाम्नैव ख्यातिमगात् । स ह्येष कुमारोऽष्टरूपश्च पशुपतिश्चेत्यन्यत्र विस्तर: । एवमिन्द्रस्य राज्ञ: पुत्रोऽयमप्रतिरथो नाम । तेन दृष्टोऽयं संग्रामविजयकारीन्द्रो यजमानात्मनि संनिधापित: प्राणविशेषोऽप्यत्राप्रतिरथो नाम ॥ क्वचित्पुनर्नैवं समानशब्दत्वं दृश्यते । यथा—"अजान्ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् । तदृषीणामृषित्वमिति" इतिश्रुतौ विश्वामित्रगोत्रस्थानामन्येषां वा केषांचिदजपृश्नीतिद्विनामकानामृषीणां द्रष्टृत्वमाख्यायते दृश्यन्ते च तदार्षेया मन्त्रा: । किन्तु नाजपृश्निसंज्ञा देवा: श्रूयन्ते ॥ तदित्थं क्वचिद्व्यभिचारेऽपि प्रायेणोद्भावकानां द्रष्टॄणामुद्भावितानां च प्राणानां समानशब्दत्वं सिद्धम् ॥

परे त्वाहु: । नैवं द्रष्टुर्वसिष्ठशब्दत्वे वसिष्ठप्राणोद्भावकत्वमात्रं हेतु: । अपितु वसिष्ठप्राणेनैव कृतात्मत्वमपि । इहहि प्राणिनामध्यात्मं चतुर्विधो ग्रामो व्याख्यात: । तत्राऽन्यतमे प्राणग्रामे यस्याय वसिष्ठो मुख्यप्राणोऽङ्गी भवति स वसिष्ठात्मकत्वाद्वसिष्ठ इत्युच्यते । वैशेष्यात्तु तद्वाद इति न्यायात् ॥ "अपिच श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्ध: स एव स:" इतिस्मृतेर्यस्मिन्पुरुषे वसिष्ठविषयिणी श्रद्धा भूयसा भवति स वसिष्ठमयो वसिष्ठ इत्येवाख्यात: । एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् ॥ तथा च सिद्धं—सन्ति स्म पुराकाले मत्स्यवसिष्ठागस्त्यनामानो भृग्वङ्गिरोऽत्रिनामान: कश्यपकौशकनामानश्च पारोवर्य्यविदो विद्वांस: केचित् । त एवैते वेदप्रवर्तका वेदाचार्य्या ऋषय इति ॥ तेष्वस्य मत्स्यमहर्षेरेक एव मन्त्र: श्रूयते न च तद्वंश्या: स्मर्य्यन्ते । तस्मादिह मत्स्यं पार्थक्येनानिरूप्य तान वसिष्ठादीन् सवंशाननुक्रमिष्याम: ॥

तत्रादौ वसिष्ठसंहिता ।

य एषां वसिष्ठानामाद्य: पुरुषस्तस्य न प्रातिस्विकं नाम स्मर्य्यते । वसिष्ठेति यशोनाम्नैव भूयसा व्यवहारप्रचारात्तेनैवास्य प्रसिद्धे: । तस्यादिऽवसिष्ठस्य द्वादश पुत्रा:, चत्वार: पौत्रा:—मन्त्रद्रष्टार इति सप्तदशभिरेतै: प्रणीतानां मन्त्राणां संग्रहो वसिष्ठसंहिता नाम । ते यथा—

(१) वसिष्ठ: । स मान्यो मैत्रावरुणिरौर्वशि: ॥ १ ॥ तदात्मभूतस्य वसिष्ठप्राणस्य मित्रावरुणाभ्यामहोरात्राभिमानिभ्यामुर्वशीनाम्न्या अप्सरसो दिगभिमानिन्या: सम्बन्धेन कुम्भे समुत्पादितत्वात् ॥

(२) मन्युः । उपमन्युः । व्याघ्रपात् । मृडीकः । वृषगणः । प्रथः । इन्द्रप्रमतिः । द्युम्नीकः । चित्रमहाः । कर्णश्रुत् । वसुक्रः । शक्तिः । इत्येते द्वादश वसिष्ठपुत्रा वसिष्ठाः ॥ १२ ॥

(३) वसुक्रद् वासुक्रः । वसुकर्णो वासुक्रः । पराशरः शाक्त्यः । गौरिवीतिः शाक्त्यः—इति चत्वारः पौत्राः । ४ । तेऽप्येते वसिष्ठाः । इत्थं सप्तदशर्षयः । इतोऽन्ये तद्गोत्रे मन्त्रद्रष्टारो न सन्ति ॥ १७ ॥

अथ अगस्त्यसंहितायाम् ।

अथागस्त्यसंहितायामगस्त्य एकोऽगस्त्यपुत्र एकोऽगस्त्यपौत्रश्चैक इत्येवं त्रय एव प्राधान्येनर्षयो भवन्ति । अथागस्त्यशिष्यः, अगस्त्यपत्नी, अगस्त्यस्वसा, अगस्त्यभागिनेया-श्चेत्येते नैपातिका ऋषयः । तद्यथा—

(१) अगस्त्यः । स मान्यो मैत्रावरुणिरौर्वशिः ॥ १ ॥ तदात्मभूतस्यागस्त्यप्राणस्य मित्रावरुणाभ्यामहोरात्राभिमानिभ्यामुर्वशीनाम्न्या अप्सरसो दिगभिमानिन्याः सम्बन्धेन कुम्भे समुत्पादितत्वात् ॥

(२) दृढच्युत आगस्त्यः । इध्मवाहो दार्ढच्युतः ॥ २ ॥

(३) अथ ब्रह्मचारी अगस्त्यशिष्यो यस्य नाम न स्मर्य्यते । लोपामुद्रा अगस्त्यपत्नी । अगस्त्यस्वसा यस्या नाम न स्मर्य्यते । बन्धुः, सुबन्धुः, श्रुतबन्धुः, विप्रबन्धुः, इत्यत्रिगोत्रा-श्चत्वारोऽगस्त्यभागिनेयाः । तदित्थं दशर्षयः ॥ १० ॥

तदित्थं मात्सी च वासिष्ठी चागस्ती चेत्येतास्तिस्रोऽपि संहिता मैत्रावरुण्यो विज्ञेया इति दिक् ॥

अथ भृगुसंहितायाम् ।

अथ भृगुसंहितायां भृगुरेको, भृगुपुत्रा एकादश, भृगुपौत्राः पञ्च, भृगुप्रपौत्र एकः—इत्येवमष्टादश ऋषयः । तत्र जामदग्न्यवर्गः, शौनकवर्ग इति द्वौ वर्गौ । आद्ये षोडशर्षयो द्वितीये द्वौ । यथा—

(१) भृगुः—स वारुणिः । स आर्चिषः । स आग्नेयः । स आग्निवारुणिः ॥ १ ॥

जमदग्निर्भार्गवः । रामो जामदग्न्यः । कविर्भार्गवः । उशना काव्यः । वेनो

भार्गवः। पृथुर्वैन्यः। तान्वः पार्थ्यः। च्यवनो भार्गवः। सोमाहुतिर्भार्गवः। स्यूमरश्मिर्भार्गवः। कृत्नुर्भार्गवः। नेमो भार्गवः। इटो भार्गवः। प्रयोगो भार्गवः। आसङ्गः प्लायोगिः। स राजाऽऽसीत्। शश्वती आङ्गिरसी आसङ्ग-राजमहिषी बभूव। इति षोडशैते जामदग्न्यवर्ग्या ऋषयः ॥ १६ ॥ अत्रैका ब्रह्मवादिनी ॥

अथैतस्मिन् जमदग्निप्रधाने भार्गवे वंशे कथञ्चिच्छिथिले जाते भृगुवंशोद्रेकार्थं बृहस्पति-प्रपौत्रो भरद्वाजपौत्रः शुनहोत्रपुत्रोऽयमाङ्गिरसो गृत्समदो नाम ऋषिर्भार्गवस्य शुनकस्य कृत्रिमः पुत्रो भूत्वा भार्गवेगोत्रे प्राविशत्। तदुक्तम्—

"औरसः शुनहोत्रस्य शुनकस्यैव कृत्रिमः।
तस्मादाङ्गिरसः पूर्वं पश्चात् स भृगुतां गतः इति।

तद्यथा—गृत्समदः शौनकः। कूर्म्मो गार्त्समदः। इति द्वाभ्यां शौनकवर्गः॥ २ ॥

अथाङ्गिरःसंहिता।

सा षोढा—अथर्वसंहिता, घोरसंहिता, गोतमसंहिता, उचथ्यसंहिता, बृहस्पतिसंहिता, गणधरसंहिता चेति—

तत्राथर्वसंहितायामथर्वाङ्गिरा एकः। तस्य पुत्रास्त्रयः—इत्येवं चत्वार एवर्षयः। यथा—

अङ्गिरा आग्नेयः। स ब्रह्मा। न तस्य मन्त्रा उपलभ्यन्ते। अथर्वा आङ्गिरसः। १
बृहद्दिव आथर्वणः, भिषगाथर्वणः, दध्यङ्ङाथर्वणः इत्येवं त्रय आथर्वणाः। ३

अथर्वा तु भृगुर्ज्ञेयोऽप्यङ्गिराऽथर्वणः सुतः।
तस्मात् स लौकिकाग्निस्तु दध्यङ् चाथर्वणः सुतः॥
(वायु पु० पू० अ० ६ श्लो० ६)

भृगुर्वारुणिर्वाह्लीके नगरे वरुणगृहे गृहीतजन्मापि पुष्करनगरस्थस्यादिब्रह्मणो मानस पुत्रोऽभवत् तस्य वंशे शिथिलतांगते। चत्वारोऽप्येतेऽङ्गिरसः। ४

इदमत्रापरं बोध्यम्। अथर्वसंहिता द्वेधा विभज्यते। वैतानयज्ञेषु देवताहवने यावती-नामृचां प्रयोगो विधीयते तावतीनामन्या संहिता दाशतय्यां सन्निविशते। अथ यास मृचा-मोषध्यादिगुणपराणां पाकयज्ञप्रयोज्यानां वा वैतानयज्ञे प्रयोगो न विधियते तासामन्या संहिता-ऽथर्वाङ्गिरःसंहितानाम्नैव लोके प्रसिद्ध्यति इति॥

अथ घोरसंहिता ।

तस्यास्तिस्रो विधाः—घोरसंहिता, कण्वसंहिता, प्रगाथसंहिता च । आद्यायां घोर एवैक ऋषिः । तत्र घोरेणाङ्गिरसा प्रणीता मन्त्रा द्विविधाः—ये वैतानप्रयोज्यास्ते कण्ववर्गे दाशतय्यामाम्नाताः । ये तु पाकयज्ञप्रयोज्यास्तेऽथर्वाङ्गिरःसंहितायां संनिविष्टा आम्नायन्ते इत्यवधेयम् ॥

अथ कण्वसंहितायाम् ।

घोर एकः ।१। घोरपुत्रः कण्व एकः ।२। कण्वपुत्राः षड्विंशतिः ।३। कण्वपौत्र एकः ।४। कण्ववंशधरौ द्वौ ।५। इत्यवमेकत्रिंशदृषयो भवन्ति । यथा—

अङ्गिरा आग्नेयः । तस्य मन्त्रो नास्तीत्युक्तम् ।

अथ घोर आङ्गिरसः ।१। कण्वो घौरः ॥२॥ अथ कण्वाः—प्रस्कण्वः । मेधातिथिः । मेध्यातिथिः । देवातिथिः । ब्रह्मातिथिः । नीपातिथिः । वत्सः । पुनर्वत्सः । इरिंविठिः । शशकर्णः । कुरुसुतिः । कुसीदी । नाभाकः । पृषध्रः । पुष्टिगुः । श्रुष्टिगुः । आयुः । कृशः । मेध्यः । मातरिश्वा । सध्वंसः । त्रिशोकः । सुपर्णः । पर्वतः । नारदः । सौभरिः । इत्येते षड्विंशतिः काण्वाः ॥३॥ कुशिकः । सौभरः ॥४॥ गोपूक्ती काण्वायनः । अवसूक्ती काण्वायनः ॥५॥ स एतावान् कण्ववर्गः समाख्यातः ॥

अथ प्रगाथसंहितायाम् ।

घोरपुत्रः प्रगाथ एकः ॥१॥ प्रगाथपुत्रास्त्रयः ।३। इत्येवं चत्वारो मन्त्रद्रष्टारः । यथा—प्रगाथो घौरः ॥१॥ अथ भर्गः प्रागाथः । कलिः प्रागाथः । हर्य्यतः प्रागाथः ।२। इति । इदमत्रापरं बोध्यम् । घौरोऽयं प्रगाथो घौरस्यैव कण्वस्य कनीयान् भ्राता कुतश्चिन्निमित्तादस्य पुत्रोऽभवदित्यैतिहासिका आहुः । तेन प्रगाथः काण्व इत्यभूत प्रसिद्धिः । किञ्च । मेधातिथिः । नीपातिथिः । नाभाकः । त्रिशोकः । वशोऽश्वः । सध्वंसः । कुरुसुतिः । कुसीदी । सौभरिः । इत्येते नवर्षयः काण्वा उक्ताः । तेषां प्रगाथत्वमप्यैतिहासिका आहुः । तेषां कथं काण्वत्वं कथं वा प्रागाथत्वमितिहासे स्पष्टमाम्नातम् ॥ तदित्थमृषीणां पञ्चत्रिंशता सा घौरी संहितार्षेयवती भवति ॥

अथ गोतमसंहितायाम् ।

गोतमपिता रहूगण एकः ।१। गोतमः स्वयमेकः ॥२॥ गोतमपुत्रौ द्वौ ॥३॥ गोतमपौत्राश्चत्वार इत्येवमष्टावृषयः । यथा—

अङ्गिरा आग्नेयः। स ब्रह्मा। तस्य मन्त्रो नास्तीत्युक्तम्। अथ रहूगण आङ्गिरसः।१। गोतमो राहूगणः।२। नोधा गौतमः। वामदेवो गौतमः।३। एकद्यूर्नौधसः। बृहदुक्थो वामदेव्यः। मूर्द्धन्वान् वामदेव्यः। अंहोमुग्वामदेव्यः॥४॥ इति॥

अथोचथ्यसंहितायाम्।

उचथ्य एकः।१। उचथ्यपुत्र एकः।२। उचथ्यपौत्रास्त्रयः।४। उचथ्यप्रपौत्री एका।५। उचथ्यप्रपौत्रीपुत्र एकः।६। इत्येवमष्टावृषयः। यथा—

अङ्गिरा आग्नेयः। स ब्रह्मा। तस्य मन्त्रो नास्तीत्युक्तम्। उचथ्य आङ्गिरसः।१। दीर्घतमा औचथ्यः।२। कक्षीवान् दैर्घतमसः।३। सुकीर्तिः काक्षीवतः। शबरः काक्षीवतः। नोधा काक्षीवतः।४ घोषा काक्षीवती।५। सुहस्त्यो घौषेयः।६। इति। अत्रैका योषिद्ब्रह्मवादिनी घोषा नाम। नोधा द्विविधो गौतमश्च काक्षीवतश्च॥

अथ बृहस्पतिसंहितायाम्।

बृहस्पतिरेकः।१। बृहस्पतिपुत्राश्चत्वारः।२। बृहस्पतिपौत्रा दश।३। बृहस्पतिपौत्री एका।४। बृहस्पतिप्रपौत्रास्त्रयः।५। बृहस्पतिप्रपौत्री चैका।६। इत्येवं विंशतिमिता ऋषयः। यथा—

अङ्गिरा आग्नेयः। स ब्रह्मा। तस्य मन्त्रो नास्तीत्युक्तम्। बृहस्पतिराङ्गिरसः।१। तपुमूर्द्धा बार्हस्पत्यः। शंयुर्बार्हस्पत्यः। अग्निः पावको बार्हस्पत्यः। भरद्वाजो बार्हस्पत्यः।२। अथ भारद्वाजाः। गर्गः। ऋजिश्वा। वसुः। शिरिम्बिठः। सप्रथः। पायुः। शासः। नरः। शुनहोत्रः। सुहोत्रः। इति दश॥३॥ रात्रिर्भारद्वाजी।४। गोधा नारी।५। गृत्समदः शौनहोत्रः। पुरुमीढः सौहोत्रः। अजमीढः सौहोत्रः॥६॥ इति॥ अत्र द्वे योषितौ ब्रह्मवादिन्यौ—रात्रिश्च गोधा च। अथेह सुहोत्रादयो बृहस्पतिपौत्राः—स्यादेते सर्वे भरद्वाजपुत्राःस्युः, स्यादेते सर्वे शंयुपुत्राःस्युः, स्याद्वा केचिदिह भारद्वाजा अन्ये च शंयुपुत्राः स्युरिति विचिकित्सितमेव। पुरुमीढाजमीढौ च सौहोत्रावेव सन्तावपि न निर्द्धार्य्येते—यदमुष्यैव भरद्वाजस्य पौत्रौ वान्यस्य कस्यचिद्राजर्षेर्वेति। अथ शंयुरित्यत्र शम्युरित्यपि दृश्यते व्यपदेशो मन्त्रे॥

अथ गणधरसंहितायाम् ।

तत्राङ्गिरसेषु ये केचन वंशधरा आसन् येषां हि वंशो बहुपुरुषः क्लृप्तः त एते पञ्चभिर्वंशैर्विभक्ताः कतिपये ऋषयः समाख्याताः । अथ येषां वंशो विशिष्य न प्रतिपद्यते येषां वा वंशोऽत्यल्पपुरुषः क्लृप्तः-त एते पुनरेकत्र समाहृत्य प्रदर्श्यन्ते । त एते गणधरा अङ्गिरस आख्येयाः । तेषां द्वौ वर्गौ अश्रुतवंशोऽत्यल्पवंशश्च । आद्ये ऊनत्रिंशदृषयः । द्वितीये चतुर्विंशतिः । यथा—

अङ्गिरा आग्नेयः । स ब्रह्मा । तस्य मन्त्रो नास्तीत्युक्तम् । संवर्तः । गर्गः । नरः । अयास्यः । मूर्द्धन्वान् । प्रचेताः । दिव्यः । विहव्यः । पवित्रः । शिशुः । ऊर्ध्वसद्मा । पुरुहन्मा । बृहस्पतिः । पुरुमेधः । प्रभूवसुः । सप्तगुः । कृतयशाः । हरिमन्तः । तिरश्चीः । सुदीतिः । विन्दुः । वरुः । सुकक्षः । श्रुतकक्षः । पूतकक्षः । भिक्षुः । अभीवर्तः । ध्रुवः । सहस्रं वसुरोचिषोऽङ्गिरसः । इत्येतावानश्रुतवंशानां वर्गः । तत्र यद्यप्युचथ्य बृहस्पतिसंवर्तानां सोदरभ्रातृतया पुराणे स्मरणादस्य संवर्तस्य पूर्ववंशोऽवधार्य्यते तथाप्यस्य पुत्रपौत्रादिवंशो न स्मर्य्यते इतीहाख्यायते । गर्गनरौ द्वेधा व्यपदिश्येते—भारद्वाजत्वेन चाङ्गिरसत्वेन चेति । मूर्द्धन्वांस्तु वामदेव्यत्वेन चाङ्गिरसत्वेन चेति । तत्र न ज्ञायते भारद्वाज एवायमाङ्गिरसविशेषः सामान्यगणेऽप्यत्र सामान्यादाम्नायते, अथवाऽतिरिच्यतेऽयं भारद्वाजादिति । किञ्च गोधा नारी प्रागाख्याता । साङ्गिरसनरस्य दुहिता वा भारद्वाजस्य वेति विचिकित्स्या । अथाभीवर्तध्रुवौ वागाम्भृणीसाधर्म्याद्विप्रकीर्णसंहितायां पाठ्यौ, ब्रह्मर्षिसंहितायां वा आभासंहितायां वेत्यपि चिन्त्यम् । वरुः सौषुम्णो, राजा वा । सहस्रं वसुरोचिषस्तु विप्रकीर्णसंहितापाठ्या अप्यङ्गिरस्त्वधर्म्माध्यवसायादिहाख्याता इतिदिक् ॥

प्रियमेध आङ्गिरसः । सिन्धुक्षित् प्रैयमेधः ।१। व्यश्व आङ्गिरसः । विश्वमना वैयश्वः (२) नृमेध आङ्गिरसः । शकपूतो नार्मेधः (३) कृष्ण आङ्गिरसः विश्वकः कार्ष्णिः (४) वीतहव्य आङ्गिरसः । अरुणो वैतहव्यः (५) अमहीयुराङ्गिरसः । उरुक्षयः आमहीयवः (६) कुत्स आङ्गिरसः । दुर्मित्रः कौत्सः (७) हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । अर्चन् हैरण्यस्तूपः (८) विरूप आङ्गिरसः । नभःप्रभेदनो वैरूपः । शतप्रभेदनो वैरूपः । सध्रिर्वैरूपः । अष्टादंष्ट्रो वैरूपः । (६) उरुराङ्गिरसः । अङ्ग औरवः । हविर्धान आङ्गिः । (१०) उपमश्रवा मैत्रातिथेयः । इत्येतावानत्यल्पवंशानां वर्गः । तदित्थं चतुःपञ्चाशता ऋषिभिर्दृष्टानां मन्त्राणां संग्रहेणैषा गणधरसंहिता संपद्यते । सर्वेऽप्येते षोढा विभक्ता आङ्गिरसः । षोढा विभक्ता चैषाङ्गिरसी संहिता समाख्याता ॥

अथात्रिसंहितायाम् ।

अत्री द्वौ ।१। वंशधरास्त्रयः ।२। गणधरा द्वात्रिंशत् ।३। योषितो द्वे ।४। द्विनामानौ द्वौ ५। गणिनस्त्रयः । इत्येवं चतुश्चत्वारिंशदृषयः । यथा—

अत्रिः सांख्यः इत्येकः, अत्रिर्भौम इत्येक इत्येवं द्वावत्री भवतः ॥१॥ अर्चनाना आत्रेयः । श्यावाश्व आर्चनानसः । अन्धीगुः श्यावाश्विः – इत्येकस्त्रिपुरुषो वंशः ॥२॥ अथात्रेयाः– बुधः सौम्यः । गविष्ठिरः । कुमारः । वसुश्रुतः । इषः । गयः । सुतंभरः । धरुणः । पुरुः । वव्रिः । ससः । विश्वसामाः । बभ्रुः । गातुः । अवस्युः । सदापृणः । प्रतिक्षत्रः । प्रतिरथः । प्रतिभानुः । प्रतिप्रभः । प्रतिवित् । रातहव्यः । यजतः । तर्प्यः । उरुचक्रिः । बाहुवृक्तिः । पौरः । सत्यश्रवाः । एवयामरुत । गोपवनः । सप्तवध्रिः । स्वस्ती । इत्येवं द्वात्रिंशत् ॥३॥ विश्ववारा आत्रेयी । अपाला आत्रेयी । इति द्वे ब्रह्मवादिन्यौ योषितौ ॥ ४ ॥ मृक्तवाहा द्वितः एकः । द्युम्नो विश्वचर्षणिरेकः । तौ द्वौ द्विनामानौ ॥५॥ प्रयस्वन्तोऽत्रयः । वसूयवोऽत्रयः । गोपायना लौपायना वा अत्रयः इत्येते गणिनस्त्रयः ॥ ६ ॥ अत्र गौपायनशब्दभाजोऽत्रयश्चत्वारः श्रूयन्ते—बन्धुः, सुबन्धुः, श्रुतबन्धुः, विप्रबन्धुः—इति । एषां जननी ब्रह्मवादिनी काचिदगस्त्यभगिनी । पिता त्वेषामसमातिर्नाम राजा, अथवाऽन्यः कश्चिदिति विचिकित्सितम् ॥ तदित्थं भार्गवी चाङ्गिरसी चात्रेयी चेत्येतास्तिस्रः संहिता आग्नेय्यः । समानजन्मत्वादाग्नेयत्वादेषां भृग्वङ्गिरोऽत्रीणां त्रयाणां प्राणानामित्यन्यत्र विस्तरः ॥

अथ कश्यपसंहितायाम् ।

कश्यप एकः ॥१॥ कश्यपपुत्रा अष्टौ ॥२॥ योषितौ द्वे ॥ ३ ॥ इत्येवमेकादशर्षयः ॥ यथा—

कश्यपो मारीचः ॥१॥ अथैतस्य पुत्राः—असितः । देवलः । निध्रुविः । अवत्सारः । रेभः । सूनुः । विवृहा । भूतांशः । इत्यष्टौ ॥२॥ अथ शिखण्डिन्यावप्सरसौ काश्यप्यौ द्वे ॥३॥ तदित्थमेकादश ॥

अथ कौशिकसंहिता, विश्वामित्रसंहिता वा ।

तत्र विश्वामित्रो यशोधरः । तस्य प्रपितामहः, पितामहः, पिता चैकतस्त्रयः ॥३॥ विश्वामित्रः स्वयमेकः ॥४॥ विश्वामित्रस्य पुत्रा अष्टौ ॥५॥ पौत्रास्त्रयः ॥६॥ इत्येवं पञ्चदश–

व्यक्रयः स्मर्य्यन्ते । तेषु प्रपितामहस्तावद्दृषिर्नास्ति । मन्त्रद्रष्टृत्वास्मरणात् । पितामहः पिता चैतो नैपातिकावृषी संभाव्येते ॥ स्वयं तु विश्वामित्रः शतर्चो महामहर्षिः । पुत्रेषु कश्चिच्छन्दर्चो । परे महासूक्तक्षुद्रसूक्ताः । तदित्थं द्वादशैवात्र ऋषयः सुप्रतिपन्नाः । यथा—

इषीरथो नाम राजा । १ । कुशिक एषीरथिः । २ । गाथी कौशिकः । इत्येते मन्त्रद्रष्टारो न सन्ति । विश्वामित्रो गाथिनः । ४ अथास्य पुत्राः—देवरातः । मधुच्छन्दाः । कतः । ऋषभः । रेणुः । अष्टकः । पूरणः । प्रजापतिः । इत्यष्टौ ॥ ५ ॥ जेता माधुच्छन्दसः । अघमर्षणो माधुच्छन्दसः । उत्कीलः कात्य इति त्रयः पौत्राः ॥ ६ ॥ तदित्थं पञ्चदश द्वादश वा ॥

कुशिको द्वेधा—ऐषीरथिश्च सौभरिश्च । तेनायं विचिकित्सितः । एवं प्रजापतिस्त्रेधा—वैश्वामित्रश्च वाच्यश्च परमेष्ठी च । प्रजापतेश्च पुत्रपौत्रप्रपौत्रवृद्धप्रपौत्राः स्मर्य्यन्ते । यथा—हिरण्यगर्भः । विष्णुः । यज्ञः । दक्षिणा । प्रजावान् विमदः । यक्ष्मनाशनः । पतङ्गः । संवरणः—इति नवैते प्राजापत्याः । मनुःसांवरणः ॥ तथा नाभानेदिष्ठः, शार्य्यातः, नहुषश्चेति त्रयो मानवाः ॥ ययातिर्नाहुषः इति ॥ तत्र नावधार्य्यते-कस्यैते हिरण्यगर्भादयः पुत्राः—वैश्वामित्रस्य वा वाच्यस्य वा परमेष्ठिनो वेति । एवं मनुरप्ययं नानागोत्रेषु स्मर्य्यते तत्र न ज्ञायते—कस्यैते नाभानेदिष्ठादयः पुत्रपौत्रा इति तन्मृग्यम् ॥

अथायं देवरातः पूर्वमजीगर्त्तस्यानृषिब्राह्मणस्य पुत्रः शुनःशेपोनामा आसीदाङ्गिरसः । "यथैवाङ्गिरसः सन्नुपेयां तव पुत्रताम्" "आङ्गिरसो जन्मनाऽस्याजीगर्त्तः श्रुतः कविः" इति बहृचश्रुतेः । स हरिश्चन्द्रस्य राज्ञो वारुणे यज्ञे क्रीतः पुत्रोऽभूत् । स पुनरमुष्य विश्वामित्रस्य पश्चात् कृत्रिमः पुत्रो भूत्वा विश्वामित्रकृपया पुत्रेषु ज्यैष्ठ्यं वेदं चालभत । तेनायमृषिः समुदभूद्देवरातो नाम ॥ मधुच्छन्दास्तु विश्वामित्रस्यौरसो ज्येष्ठः पुत्रः ॥

॥ इति कौशिकसंहिता ॥

अथान्या विप्रकीर्णसंहिता ।

सा पञ्चधा विभज्यते । आभाससंहिता । राजर्षिसंहिता । अब्राह्मसंहिता । ब्रह्मवादिनीसंहिता । उद्भटसंहिता चेति ॥ ॥ तत्र वसिष्ठाकर्तृकत्वेऽपि येषां मन्त्राणां कर्तारो न निर्णीयन्ते, अवक्तार एवच केचिदर्था तत्र वक्तृत्वेन विवक्ष्यन्ते तेषां संग्रहेण विवक्षितार्षेय संहिता संपद्यते सैषाभाससंहिता नाम ॥ तेषां च वक्तृत्वेन विवक्षितानामेषामृषीणां चतुर्विंशिनो वर्गा भवन्ति—(१) ब्राह्मवर्गः । (२) अग्निवर्गः । (३) ऐन्द्रवर्गः । (४) आदित्यवर्गः ।

(५) सौर्य्यवर्गः । (६) नारायणादिवर्गः । (७) प्रकीर्णवर्गः । (८) प्राजापत्यवर्गः ॥ इति अष्टधा-दैवतव्यपदेशाः ॥ (१) तापसवर्गः । (२) आत्सववर्गः । (३) आप्त्यवर्गः । (४) ऋभ्वादिवर्गः । (५) द्विनामवर्गः । (६) वाग्वर्गः । (७) कशिवर्गः । (८) सप्तर्षिवर्गः । (९) वैखानसवर्गः । (१०) बालखिल्यावर्गः । इति दशधा ऋषिव्यपदेशाः ॥ (१) मत्स्यवर्गः । (२) तार्क्ष्यवर्गः । (३) शार्ङ्गपक्षिवर्गः । (४) तैर्य्यग्योनवर्गः । (५) नागवर्गः । (६) सप्त्यादिवर्गः । इति षोढा तिर्य्यग्व्यपदेशश्चेति भेदात् ॥ तद्यथा—

दैवतव्यपदेशाः ।

रक्षोहा ब्राह्मः । १ । ऊर्ध्वन मा ब्राह्मः । २ । जुहूर्ब्रह्मजाया । ३ । इति त्रिभिर्ब्राह्मवर्गः ॥ १ ॥" अग्निः पावको बार्हस्पत्यः । १ । अग्निर्वैश्वानरः । २ । अग्निर्गृहपतिः साहसः । ३ । अग्निर्य्यविष्ठः साहसः । ४ । अग्निः सौचीकः । ५ । अग्निस्तापसः । ६ । अग्निश्चाक्षुषः । ७ । अग्नयो धिष्ण्या ईश्वरपुत्राः । अग्निवरुणसोमानां निहवः । इति नवभिरग्निवर्गः" ॥ २ ॥ "इन्द्रो वैकुण्ठः । १ । इन्द्रो मुष्कवान् । २ । इन्द्राणी केवली । ३ । शची पौलोमी । ४ । जय ऐन्द्रः । ५ । अप्रतिरथ ऐन्द्रः । ६ । वसुक्र ऐन्द्रः । ७ । विमद ऐन्द्रः । ८ लब ऐन्द्रः । ९ । वृषाकपिरैन्द्रः । १० । सवहरिरैन्द्रः । ११ । कुत्स ऐन्द्रः । १२ । सव्य ऐन्द्रः । १३ इति त्रयोदशभिरैन्द्रवर्गः ॥ ३ ॥ अदितिर्दाक्षायणी । १ । विवस्वानादित्यः । २ । यमो वैवस्वतः । ३ । यमी वैवस्वती । ४ । शङ्खो यामायनः । ५ । दमनो यामायनः । ६ । देवश्रवा यामायनः । ७ । संकुसुको यामायनः । ८ । मथितो यामायनः । ९ । ऊर्ध्वकृशनो यामायनः । १० । कुमारो यामायनः । ११ । मनुर्वैवस्वतः । १२ । नाभानेदिष्ठो मानवः । १३ । शार्य्यातो मानवः । १४ । नहुषो मानवः । १५ । ययातिर्नाहुषः । १६ । इति षोडशभिरादित्यवर्गः । "विभ्राट् सौर्य्यः । १ । चक्षुः सौर्य्यः । २ । अभितपाः सौर्य्यः । ३ । घर्म्मः सौर्य्यः । ४ । इति चतुर्भिः सौर्य्यवर्गः ॥ ५ ॥

नारायणः केवलः । १ । त्वष्टा गर्भाणां कर्ता । २ । सूर्य्या सावित्री । ३ । इति त्रिभिर्नारायणादिवर्गः ॥ ६ ॥

इन्द्रमातरो देवजामयः । १ । इन्द्रस्नुषा वसुक्रपत्नी । २ । विश्वावसुर्देवगन्धर्वः । ३ । बृहस्पतिर्लौक्यः । ४ । विरश्मीर्यूतानो वा मारुतः । ५ । सत्यधृतिर्वारुणिः । ६ । ध्रुवः । ७ । अभीवर्तः । ८ । श्रद्धा कामायनी । ९ । अनिलो वातायनः । १० । उलो वातायनः । ११ । वागाम्भृणी । १२ । प्रजापतिर्वाच्यः । १३ । दक्षिणा प्राजापत्या । १४ । इति चतुर्दशभिः प्रकीर्णवर्गः ॥ ७ ॥

प्रजापतिः परमेष्ठी । १। हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः । २। विष्णुः प्राजापत्यः । ३। यज्ञः प्राजापत्यः । ४। दक्षिणा प्राजापत्या । ५। प्रजावान् प्राजापत्यः । ६। यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः । ७। पतङ्गः प्राजापत्यः । ८। विमदः प्राजापत्यः । ९। संवरणः प्राजापत्यः । १०। मनुः सांवरणः । ११। इत्येकादशभिः प्राजापत्यवर्गः ॥ ८॥ तदित्थं त्रिसप्ततिर्दैवतव्यपदेशा ऋषय आख्याताः ॥

अथर्षिव्यपदेशाः १५४ ।

(१) अग्निस्तापसः । धर्म्मस्तापसः । मन्युस्तापसः । इति त्रिभिस्तापसवर्गः । ३ ।

(२) मनुराप्सवः । चक्षुर्मानवः । अग्निश्चाक्षुषः । वत्स आग्नेयः । केतुराग्नेयः । श्येन आग्नेयः । कुमार आग्नेयः । इति सप्तभिराप्सववर्गः । ७ ।

(३) एकताः, द्विताः, त्रिताः, —इत्येते त्रयः आप्त्याः । द्वितो मृक्तवाहा आत्रेयेषूक्तः । आप्त्यो नाम त्रितेष्वेकः । भुवन आप्त्यः । विश्वकर्म्मा भौवनः । साधनो भौवनः । इति षड्भिराप्त्यवर्गः । ६ ।

(४) ऋभुः । विभ्वा । वाजः । इति ऋभ्वादयस्त्रयः । सूनुरार्भवः । इति चतुर्भिः ऋभ्वादिवर्गः । ४ ।

(५) पृश्नयोऽजाश्च, सिकतानिवावरी च, आकृष्टा माषाश्चेति त्रयो द्विनामानः । ३ ।

(६) वागाम्भृणी । प्रजापतिर्वाच्यः । इति द्वाभ्यां वाग्वर्गः । २ ।

(७) जूतिः । वातजूतिः । विप्रजूतिः । वृषाणकः । करिक्रतः । एतशः । ऋष्यश्रृङ्गः :—इति सप्तैते केशिनो वातरशना मुनयः ॥ ७ ॥

(८) भरद्वाजः । कश्यपः । गौतमः । अत्रिः । विश्वामित्रः । जमदग्निः । वसिष्ठः इति सप्तर्षयः प्रसिद्धाः ॥ ७ ॥

(९) शतं वैखानसाः । वम्रो वैखानसः । इत्येकशतेन वैखानसवर्गः । १०१ ।

(१०) बालखिल्यानां चतुर्दशानामेको वर्गः । १४ ।

तदित्थं दश वर्गाश्चतुष्पञ्चाशं शतमृषिव्यपदेशा ऋषयः समाख्याताः । १४ ।

"अथ मतान्तरम्—सूर्य्यरथमनुवर्त्तिनो ये बालखिल्या नाम ऋषयः परिवर्तन्ते तान् विद्वांसः—प्रस्कण्वायु-पुष्टिगु-श्रुष्टिगु-मेध्य मातरिश्व-कृश-पृषध्र-सुपर्णादयश्चतुर्दश काण्वा वैते बालखिल्यसंज्ञा उच्यन्ते नातोऽन्ये केचिदिति ॥

तथा चैते चत्वारिंशं शतमेव ऋषयो द्रष्टव्याः ॥

अथ तिर्य्यग्व्यपदेशाः । १८ ।

(१) मत्स्यः सांमदः । अथवा मान्यो मैत्रावरुणिः । अथ वा अनेके मत्स्या जालनद्धाः ॥ १ ॥
इति मत्स्यवर्गः ॥ १ ॥

(२) अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः १, सुपर्णस्तार्क्ष्यः २ । इति द्वाभ्यां तार्क्ष्यवर्गः ॥ २ ॥

(३) जरिता १, द्रोणः २, सरिसृक्कः ३, स्तम्बमित्रः ४ । इति चतुर्भिः शार्ङ्गपक्षिवर्गः ॥ ४ ॥

(४) ऋषभो वैराजः १, ऋषभः शाक्वरः २, कपोतो नैर्ऋतः ३, अश्वो भौजनान् ४ । इति चतुर्भिस्तैर्य्यग्योनवर्गः ॥ ४ ॥

(५) जरत्कर्णः ऐरावतः सर्पः १, अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः २, ऊर्ध्वग्रावा आर्बुदिः ३, सार्पराज्ञी ४, इति चतुर्भिर्नागवर्गः ॥ ४ ॥

(६) सप्तिर्वाजम्भरः १ सरमा देवशुनी २ पणयोऽसुराः ३ । इतित्रिभिः सप्त्यादिवर्गः ३ ॥

तदित्थमष्टादशैते तिर्य्यग्व्यपदेशाः । तथा चैषां विवक्षितानामृषीणां पञ्चचत्वारिंशं शतद्वयं संपद्यते ॥२४५॥

तत्राध्यात्मिकानामाधिदैविकानामाधिभौतिकानां वार्थानां प्रतिपादका एते मन्त्रा वसिष्ठादिभिरेव प्रणीताः स्युः अप्रसिद्धयादृच्छिकनामधेयैरन्यैरेव वा प्रणीताः स्युः । एतान्येव वा प्राणाभिधानानि तेषां मन्त्रद्रष्टॄणां यशोनामानि स्युः । श्रद्धावागदक्षिणादिस्तोतॄणां श्रद्धावाग्दक्षिणादिनामभिः, ऋभ्वादिस्तोतॄणामृभ्वादिनामभिः प्रसिद्धिसंभवात् । वैखानसवालखिल्या-दयोऽपि गणसंज्ञा एव स्युः । वम्र इति वैखानसानामन्यतमो वा तत्पुत्रोऽन्यो वेति विचिकित्सितम् । प्रजापतिरित्यस्या वाचःपुत्रो वा कस्याश्चिदन्यस्या वाचायाः पुत्रो वेति न विशिष्य स्मर्य्यते । तदेतन्मृग्यम् । इतिदिक् ॥

इत्यार्षसंहिता प्रथमा ॥१॥

———

अथ राजर्षिसंहिता ।

राजानोऽपि केचन सन्ति स्म ब्रह्म विद्वांसः शुश्रुवांसः । तैर्दृष्टानां मन्त्राणां संग्रहेण राजर्षिसंहिता संपद्यते । तत्र पञ्चिनो वर्गा भवन्ति—काशिराजवंशः । भारतवंशः । वार्षागिरवंशः । मान्धात्रादिगणः । सुमित्रादिगणश्चेति । तद्यथा—

(१) दिवोदास आतिथिग्वः । प्रतर्दनो दैवोदासिः । परुच्छेपो दैवोदासिः । अनानतः पारुच्छेपिः—इति चत्वारो वंशधराः काशिराजस्य ॥४॥

(२) देवश्रवा भारतः । देववातो भारतः । ताविमौ वैश्वामित्रे निपतितौ । अश्वमेधो भारतः । स आत्रेये निपतितः, प्रियमेधोनाङ्गिरसेन स्तुतः । इति त्रयो भारताः ॥३॥

(३) अम्बरीषः । सहदेवः । सुराधसः । उभयमानः । ऋज्राशवः—इत्येते पञ्च वार्षागिराः । सिन्धुद्वीप आम्बरीषः । सोमकः । साहदेव्यः कुमारः—इति सप्त वार्षागिरवंश्याः ॥७॥

(४) मान्धाता, गोधा—इति द्वौ यौवनाश्वौ २ । पुरुमीढः, अजमीढः इति द्वौ सौहोत्रौ ॥२॥ अग्नियुतः । अग्नियूपः—इति स्थौरौ द्वौ २ । वसुमनाः, ऋणचयः, संवनन इति त्रयो रौहिदश्वाः ३ । तिरिन्दिरः, त्रसदस्युः, चित्रः—इति त्रयः पारशव्याः ॥३॥ पुरुमीढः । तरन्त—इति द्वौ वैददश्वी । शशीयसी तरन्तराजपत्नी । इतिपञ्चदश मान्धात्रादयः ॥१५॥

(५) सुमित्रो वाध्र्यश्वः १ मुद्गलो भाम्यश्वः २ वशोऽश्व्यः ३ त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः ४ कुरुश्रवणस्त्रासदस्यवः ५ सुदाःपैजवनः ६ त्र्यरुणस्त्रैवृष्णः ७ उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः ८ दैवापिरार्ष्टिषेणः ९ देवमुनिरैरम्मदः १० वत्सप्रिर्भालन्दनः ११ दुवस्युः वान्दनः १२ सप्तवध्रिः—जम्भरः १३ गयः प्लातः १४ पुरूरवा ऐलः १५ शिविरौशीनरः १६ सुवेदाःशैरीषिः १७ कशुश्चैद्यः १८ कुरङ्गः काण्वः १९ प्रस्कण्वः काण्वः २० प्रस्तोकः सांर्जयिः २१ अभ्यावर्ती चायमानः २२ पाकस्थामा कौरयाणः २३ स्वनयो भावयव्यः सिन्धुराजः २४ रोमशा भावयव्यपत्नी २५ आसङ्गः प्लायोगिः २६ शश्वती आङ्गिरसी आसङ्गराजपत्नी २७ रथवीतिः २८ वृशो जानो जोरा वा २९ ऋक्षः आङ्गिः ३० श्रुतर्वा आर्द्यः ३१ तुर्वशुः ३२ यदुः ३३ विभिन्दुः ३४ सृजिश्वा ३५ इति सुमित्रादयः पञ्चत्रिंशत् ॥३५॥ तदित्थं चतुःषष्टिः सिद्धाः ॥६४॥

अत्र वृशोऽयं जानो ब्राह्मणः—ऐक्ष्वाकस्य त्र्यरुणस्य त्रैवृष्णराज्ञः पुरोहितोऽपि राज-

साहचर्यादत्र राजर्षिगणे समाम्नातः ॥ तिस्रस्त्वत्र योषितः—रोमशा शश्वती शशीयसी चेति ॥ परे षष्टिसंख्या राजर्षयः । तत्राप्येकत्रिंशदेव मन्त्रद्रष्टारः (३१) अन्ये तूनत्रिंशत् (२६) नैपातिका मन्त्रेषु स्तूयन्ते । तद्यथा-पाकस्थामा कौरयाणः काण्वेन मेधातिथिना स्तुतः॥१॥ विभिन्दुस्तु काण्वेन मेधातिथिना चाङ्गिरसेन प्रियमेधेन च ॥२॥ कशुश्चैद्यः काण्वेन ब्रह्मातिथिना स्तुतः ॥३॥ तिरिन्दिरः पारशव्यः काण्वेन वत्सेन ॥ ४ ॥ त्रसदस्युश्चित्रश्च काण्वेन सोभरिणा स्तुतौ ॥ ५-६ ॥ कुरङ्गः काण्वेन देवातिथिना ॥ ७ ॥ प्राकण्वः कृशेन पृषध्रेण च स्तुतः । तुर्वशो यदुरुग्रदेवो नववास्त्वो बृहद्रथस्तुर्वीतिः—इत्येते राजानः कण्वसंहितायां चर्चिताः ॥ आसङ्गःप्लायोगिः प्रगाथेन स्तुतः ॥ ऋक्ष आङ्गिःप्रियमेधेनाङ्गिरसेन ॥ १० ॥ अभ्यावर्ती चायमानो भरद्वाजेन ॥ १ ॥ प्रस्तोकः साञ्जयिर्भाद्वाजेन गर्गेण ॥ २ ॥ तुर्वसुश्च यदुश्च बार्हस्पत्येन शंयुना ॥ त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः पुरुमीढाजमीढौ सौहोत्रौ चेति त्रयो वामदेव्ये निपतिताः ॥३॥ पुरुमीढतरन्तौ वैददश्वी तरन्तपत्नी च आत्रेयेण श्यावाश्वेन स्तुताः ॥ २ ॥ त्र्यरुणस्त्रैवृष्ण ऐक्ष्वाक आत्रेये निपतितः । त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यो, रथवीतिर्दार्भ्यश्चात्रेये निपतितौ ॥६॥ श्रुतर्वा आर्क्ष्य आत्रेयेण गोपवनेन ॥ ७ ॥ सुदाःपैजवनो वसिष्ठेन स्तुतः ॥ १ ॥ पृथुश्रवाः कानीतो वशेनाश्व्येन स्तुतः ॥ १ ॥ ऊनत्रिंशद्भूपतयो मन्त्रद्रष्टारो न सन्ति । तथाप्येषामन्येषां च बहूनां नामानि मन्त्रद्रष्टृभिः सादरं गृहीतानि मन्त्रेषु दृश्यन्ते । ते नैतेषां मन्त्रस्तुतानामृष्यनुग्राहकाणां महाराजादीनां मन्त्रसान्निध्यादौपचारिकमृषित्वमास्थीयते । इतोऽन्येतु राजर्षयः प्रागुक्ता मन्त्रद्रष्टारश्च मन्त्रदृष्टनामधेयाश्चेत्यवधेयम् ।

इति राजर्षिसंहिता ॥२॥

अथाब्राह्मसंहिता ॥३॥

आब्राह्मोऽवरवर्णः शूद्रः । तत्कर्तॄणां मन्त्राणां संग्रहोऽब्राह्मसंहिता नाम । तत्र–त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः । कवष ऐलूषः । लुशो धानाकः । कुल्मलबर्हिषः शैलूषिः-इति चत्वार एव मन्त्रद्रष्टारः ॥

इति अब्राह्मसंहिता तृतीया ॥ ३ ॥

———

अथ ऋषिका–संहिता ।४।

एतासु निर्दिष्टास्वेव संहितासु निर्दिष्टा एव ब्रह्मवादिन्यो योषितः पृथक्कृत्य प्रदर्श्यन्ते ताश्च त्रिंशत् । यथा—

१	सार्पराज्ञी	इत्येका ।
२	सरमा देवशुनी	द्वितीया ।
३	जुहूः ब्रह्मजाया	तृतीया ।
४	इन्द्राणी	चतुर्थी ।
५	शची पौलोमी	पञ्चमी ।
६	इन्द्रमातरो देवजामयः	षष्ठ्यः ।
७	अदितिः दाक्षायणी	सप्तमी ।
८	यमी वैवस्वती	अष्टमी ।
९	श्रद्धा कामायनी	नवमी ।
१०	सूर्य्या सावित्री	दशमी ।
११	दक्षिणा प्राजापत्या	एकादशी ।
१२	लोपामुद्रा अगस्त्यपत्नी	द्वादशी ।
१३	असमातिः अगस्त्यस्वसा	त्रयोदशी ।
१४	शिखण्डिन्यावप्सरसौ	चतुर्दश्यौ ।
१५	घोषा काक्षीवती	पञ्चदशी ।
१६	रात्री भारद्वाजी	षोडशी ।
१७	गोधा नारी	सप्तदशी ।
१८	विश्ववारा आत्रेयी	अष्टादशी ।
१९	अपाला आत्रेयी	ऊनविंशी ।
२०	वाग् आम्भृणी	विंशी ।
२१	रोमशा भावयव्यपत्नी	एकविंशी ।
२२	शश्वती आसङ्गराजपत्नी	द्वाविंशी ।
२३	शशीयसी नरन्तराजपत्नी	त्रयोवि ी ।
२४	उर्वशी	चतुर्विंशी ।
२५	नद्यः	पञ्चविंश्यः ।
२६	लाक्षा	षड्विंशी ।
२७	उपनिषत्	सप्तविंशी ।
२८	निषत्	अष्टाविंशी ।
२९	मेधा	ऊनत्रिंशी ।
३०	श्रीः	त्रिंशत्तमी ।

अत्रोर्वश्यादयः प्रागुक्ता अपि शाखान्तरसंवादादुक्ता इत्यवधेयम् ।

॥ इति ऋषिका-संहिता ॥

अथ उद्भटसंहिता ॥५॥

य एते मन्त्रा दाशतय्यामाम्नातास्तेषां द्रष्टारोऽप्युक्ताः । इतोऽन्येऽपि तत्र तत्र ब्राह्मणग्रन्थेषु कल्पग्रन्थेषु पठ्यमाना बहवो मन्त्रा दृश्यन्ते तेषां संग्रहेणैषोद्भटसंहिता संपद्यते । न चैषां विश्लिष्टपठितानां मन्त्राणामृषयोऽवधार्य्यन्ते । अतो निर्णयमाहुराचार्य्याः—

अनुकृष्टस्तु यः कश्चित्कल्पेऽथ ब्राह्मणेऽपि वा ।
मन्त्रः पद्योऽथ गद्योवा वामदेव्यं निबोधत ।
निवित् पुरोरुचः प्रैषा विश्वामित्रस्य सर्वशः । इति । (शाङ्खायनश्रौतसूत्रभाष्ये ८।१५।१५) ।

तेन दाशतय्यामनाम्नातानामृग्यजुर्मन्त्राणामृषिर्वामदेवः । निवित्पुरोरुक्प्रैषाणां तु विश्वामित्रः इति सिद्धम् ॥ इत्युद्भटसंहिता ॥५॥

इत्थं च सर्वेषां मन्त्राणामृषयः समाख्याता भवन्ति । ते चतुर्धा व्यपदिश्यन्ते-शतर्चिनो माध्यमा महासूक्ताः क्षुद्रसूक्ताश्चेति ऋचां शतस्य प्रणेतारः शतर्चिनः । ततोऽल्पाल्पक्रमेण माध्यमादयः । दाशतय्यां प्रथममण्डलस्थमन्त्रप्रणेतारः शतर्चिनः । द्वितीयादिनवमान्तमण्डलस्थ-मन्त्रप्रणेतारो माध्यमाः । दशममण्डलस्थमन्त्रप्रणेतारस्तु क्षुद्रसूक्तमहासूक्ताः, तत्र नासदासीयात् पूर्वं महासूक्तं परं क्षुद्रसूक्तमिति वेदार्थदीपिकायाम् । एतैरेव हि महर्षिभिः काले काले सर्वे मन्त्रा अदृश्यन्त तस्मादिमे सर्वे वेदप्रवर्तका वेदाचार्य्या उक्ताः । तेषां ज्ञानमुपयुज्यते, यथाह वेदार्थदीपिकायां षड्गुरुशिष्यः—

"ऋषिनामार्षगोत्रज्ञऋषेः संस्थानतामियात् ।
एकैकस्य ऋषेर्ज्ञानात् सहस्राब्दा स्थितिर्भवेत्" । इति ।

अथान्येऽपि कतिपये ऋषयो ब्राह्मणग्रन्थकर्तारः संहिताशाखाप्रवर्तकाश्चेष्यन्ते तेषां मन्त्रैः सह सम्बन्धो नास्तीति मन्त्राधीनायामिह यज्ञविद्यायां ते नोपयुज्यन्ते इति दिक् ॥

॥ इतिवेदप्रवर्तका ऋषयः ॥

॥ इति वेदप्रवर्तक—ऋषि—अधिकारः ॥

———

अथायुर्दायाधिकारः ।

सर्वेषामेषामृषीणामनृषीणां वा पुरुषायुषमेवायुः । "शतायुर्वै पुरुषः" इति मनुष्ययोनिसाधारण्येनायुर्नियमश्रुतेः । यत्तु—"शतं वर्षाणि जीव्यासमित्याह तदेतद् ब्रुवन्नाद्रियेत । अपि हि शताद्भूयांसि वर्षेभ्यो जीवतो" तिश्रुतेः सहस्राण्यपि वर्षाणां जीवनकालः संभाव्यते इति कश्चिद् ब्रूयात् तत्तुच्छम् । शताद्भूयांसी यत्तरस्वारस्येन द्विशतादर्वागेव काललाभात् । श्रूयते चैतरेये महीदासस्य षोडशाधिकशतवर्षजीवित्वं—सह षोडशं वर्षशतमजीवत्" इत्यादिना । एवं भरद्वाजादीनामपि दीर्घजीवितया श्रुतानां नातोऽधिकवर्षजीवित्वं श्रूयते । नापि लोके तदधिकं जीवनं दृश्यते । तस्माल्लोकदृष्टानुवादरूपाया भूयोवादश्रुत्या अपि चतुश्चत्वारिंशे वर्षाणां शते परमायुष्ट्वेन गृहीते एव तात्पर्यं नेयम् । "शतं जीव शरदो वर्द्धमानः शतं हेमन्तान् शतमु वसन्तान् । शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः" ॥१॥ "पश्येम शरदः शत जीवेम शरदः शतं" इत्याद्याशीः श्रुतिभिस्तथैव लाभात् । शतपदानामसंख्यातपरत्वं तु साहसमात्रं श्रुतिविरोधात् । तथाहि श्रूयते—

"तापश्चितसत्रब्राह्मणे मनुष्याणां सहस्रायुष्ट्वाभावः । यथा—

"उप तं यज्ञक्रतुं जानीत, यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा ।
को हि तस्मै मनुष्यो यः सहस्रसंवत्सरेण समाप्नुयात्" ॥ इति ।

केचित्त्वाहुः—सहस्रायुष्ट्वासंभवेऽपि युगधर्म्मानुसारेणायुर्भिद्यते—कृते वर्षाणां चत्वारिंशतानि, त्रेतायां त्रीणि, द्वापरे द्वे, कलावेकं शतमिति । वेदोक्तं तु वर्षशतायुष्ट्वं कलिपरं स्याद् अनृषिमनुष्यसाधारणपरं वा स्यात्, नैसर्गिकायुर्भोगोत्तरकालं काम्यकर्म्माधेयातिशयफलरूपेण पूर्वायुःपरं वा स्यात् । तदुक्तं मनुना—

"अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ॥१॥
वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्म्मणाम् ।
फलं त्वनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥" । इति । तच्चिन्त्यम् ।

मनुवचनस्य युगधर्म्मप्रशंसार्थत्वात् । चतुर्वर्षशतायुष्ट्वस्योपलब्धश्रुतौ स्मृत्यन्तरेषु वा कुत्राप्यनुपलब्धेः । किञ्च—श्रुतौ तावदेषां कृतादियुगशब्दानां प्रतिपूगं प्रतिश्रेणि प्रतिवर्गं प्रतिव्यक्ति वा साधारण्येन चित्तवृत्त्यवस्थाविशेषनिबन्धनत्वं श्रूयते—

"कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्" । । इति ।

तत्र भूयश्चरतोऽपि लोके चतुर्वर्षशतायुष्ट्वं नोपलभामहे । तस्मान्मन्त्राशयो मृग्यः ॥ अथवास्तु योगजसामर्थ्याच्चरतां चतुर्वर्षशतायुष्ट्वं, तावताऽपि सहस्रायुष्ट्वमशक्यं प्रतिपत्तुम् । अत एवोक्तं जैमिनिना तद्भाष्यकृता च दीर्घसत्रमीमांसायाम्—

सहस्रसम्वत्सरं तदायुषामसंभवान्मनुष्येषु ।
यत्तावदिह सहस्रसम्वत्सरसाध्यं सत्रं श्रूयते—

"पञ्चपञ्चाशतस्त्रिवृतः संवत्सराः, पञ्चपञ्चाशतः पञ्चदशाः, पञ्चपञ्चाशतः सप्तदशाः, पञ्चपञ्चाशतः एकविंशा विश्वसृजामयनं सहस्रसम्वत्सरम्" इति ।

तत् सहस्रायुषां देवगन्धर्वादीनां सम्बन्धेन द्रष्टव्यं न मनुष्याणाम् । मनुष्येषु तावदायुषोऽसंभवात् । स्पष्टं च सहस्रसंवत्सराणां देवेन सम्बन्धः श्रूयते—

"प्रजापतिं वै प्रजाः सृजमानं पाप्मा मृत्युरभिजघान ।
स तपोऽतप्यत सहस्रसंवत्सरान् पाप्मानं विजिहासन्" इति । तस्मात्तेषामेवैतत्सत्रम् ॥

अपि वा तदधिकारान्मनुष्यधर्म्मः स्यात् ।

अथ वा मनुष्यानेवाधिकृत्येदं यज्ञशास्त्रं प्रवृत्तं न देवगन्धर्वादीन् । तस्मात् सहस्रसंवत्सरसत्रमपि नूनं मनुष्यधर्म्मः स्यादिति बोध्यम् । अत्र प्रत्यवतिष्ठन्ते—नासामर्थ्यात् संबन्धादर्शनात् ।

न मनुष्याणामत्र सामर्थ्यमुपलभामहे । ननु रसायनैरायुर्दीर्घं प्राप्स्यन्ति ततः सामर्थ्यं स्यादिति चेन्नासामर्थ्यात् । न हि रसायनानामेतत्सामर्थ्यं येन सहस्रसंवत्सरं जीवेयुः । अग्नेर्वर्द्धकत्वेऽपि वलीपलितनाशकत्वेऽपि स्वरवर्णप्रसादकत्वेऽपि मेधाजनकत्वेऽपि तावदायुर्दाने तेषां सामर्थ्यादर्शनात् । नन्वग्निवर्द्धनादिदर्शनादेव ज्योग्जीवनमप्यनुमास्यते इतिचेन्न । शतायुर्वै पुरुषः इत्यनुवादश्रुतेर्व्याकोपात् । ननु तत्र शतान्यायुरस्येति विग्रहः स्यादिति चेन्न ।

द्विवचनबहुवचनान्तानां संख्याशब्दानामसमासः, इत्यभियुक्तोक्तेरसति विशेषगमके तथा समासस्य नेष्टत्वात् । किञ्च नैतावदायुषा रसायनानां संबन्धो दृष्टपूर्वः । संबन्धादर्शने च नानुमानं प्रवर्तते । ननु सामान्यतो दृष्टं भविष्यति । दृश्यते हि तेषामल्पं स्थिरताप्रयोजकत्वम् । तथा चाभ्यस्यमानानि वीर्य्यवन्ति स्थिरशरीरतां जनयिष्यन्ति । इति चेन्न । अभ्यस्यमानानि हि तानि यां च यावन्तीं च शरीरस्थिरतामुत्पादयेयुर्न तु प्रागप्यदृष्टकालाम् । यथा प्रक्रान्तो-

ऽभ्यासात् प्रक्रमवृद्धा अपि यां च यावन्तीं च मात्रामेव प्राप्नुवन्ति न त्वभ्यस्यन्तः पुरुषायुषेणापि योजनमात्रं प्रक्रमेयुः। एवमिहापि सम्बन्धत्वात् सहस्रायुष्ट्वं प्राप्नुयुर्नवेति सन्दिग्धं, सन्दिग्धं च सामान्यतो दृष्टं न प्रमाणम्। तस्मान्नैतावदायुषो मनुष्याः सन्तीति सिद्धम्। तथा च कथमिदं सत्त्रं मनुष्यधर्म्मः सम्भवतीति चेदत्रोच्यते—

स कुलकल्पः स्यादिति काष्र्णाजिनिरेकस्मिन्नसम्भवात्।
अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यात्॥

अन्येनारब्धमन्ये तत्कुलीनाः समापयेयुरिति तावत् काष्र्णाजिनिर्मन्यते। वस्तुतस्तु नैतदप्यस्ति यो हि कात्स्न्र्येन विधिमुपहर्तुं समर्थस्तस्यैवाधिकारात्॥

विप्रतिषेधात्तु गुणयन्यतरः स्यादिति लावुकायनः। संवत्सरो विचालित्वात्।
सा प्रकृतिः स्यादधिकारात्। अहानि वाभिसंख्यत्वात्॥

सहस्रसंवत्सरं सत्त्रं, असहस्रायुषां मनुष्याणां धर्म्मः—इति विप्रतिषिद्धम्। तस्माद-गत्या संवत्सरशब्दो वा पञ्चपञ्चाशच्छब्दो वा गौणो भवितुमर्हति। तत्र संवत्सरशब्द एव गौणो न्याय्यः, तस्य विचालित्वात्। अस्ति षष्टिसंवत्सरे द्वादशाब्दे पञ्चाब्दे सौराब्दे सावनाब्दे चान्द्राब्दे नाक्षत्रे वा विभिन्नपरिमाणे काले संवत्सरशब्दः। तदित्थं विचलतो विचलनेनार्थसिद्धौ नियतपरिमाणस्य विचलनं नावकल्पते। पञ्चपञ्चाशत् इति हि व्यक्तपरि-माणवचनमेकेनापि न्यूने सति नोपपद्यते। तस्मादिह संवत्सरशब्दोऽन्यार्थ इति मन्तव्यम्। तत्रेह सत्त्रे यत्प्रकृतं कालवचनं तत्परत्वं न्याय्यं तस्योपस्थितत्वात्। तत् त्रिविधं दृश्यते। गवामयनं सत्त्रं मासैः सम्पाद्यते। मासे च संवत्सरशब्दः श्रूयते—"यो वै मासः स संवत्सरः" इति। द्वादशाहश्च प्रकृतिः सर्वेषां सत्त्राणाम्।

तत्रापि संवत्सरशब्दः श्रूयते—द्वादश वै रात्रयः संवत्सरस्य प्रतिमेति"—एकाहश्च प्रकृतिः सर्वेषां सोमानाम्। तत्रापि संवत्सरशब्दः श्रूयते। आदित्यो वा सर्व ऋतवः। स यदैवो-देत्यथ वसन्तो, यदा संगवोऽथ ग्रीष्मो, यदा मध्यंदिनोऽथ वर्षाः, यदाऽपराह्णोऽथ शरत्, यदा-ऽस्तमेत्यथ हेमन्तशिशिरौ"—इति। इत्थं सर्वानृतूनहनि संपादयति। सर्वे च ऋतवः संवत्सरः। एवमेषां त्रयाणां प्रकृतित्वेऽप्यहान्येव सहस्रं संवत्सरा इह विवक्षिताः स्युः। त्रिवृत्पञ्चदशादीना महामहःस्वभिसंख्यत्वात् इति।

इत्थं सूत्रतो भाष्यस्वरसतश्च मनुष्याणामृषीणां च सहस्रायुष्ट्वं नास्तीति सिद्धान्त सिद्धं लभ्यते। अन्यथा ऋषीणां सहस्राधिककालजीवित्वेऽभ्युपगम्यमाने तदधिकारेण साह

साहस्रिकस्यापि सत्राऽयाञ्जसा संभवदर्थतया अत्रत्य प्रश्नसमाधिग्रन्थानां निरवलम्बनापत्तेः। तस्मा-यत्रैषां वशिष्ठादिशब्दानामृषीणां सहस्राधिककालेन तपश्चारित्वं क्वचिदाख्यायते तत्र सर्वत्र विश्व-सृजामयनन्यायेन संवत्सरशब्दस्याहःपरत्वं नेयम्, तेन षष्टिवर्षसहस्राणि चचार परमं तपः—इत्यस्य षष्ट्यधिकानि त्रीणि दिनसहस्राणीत्यर्थलाभादष्टौ वर्षाणि षण्मासाश्च तपश्चर्याकालो-ऽवसीयते। षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक। कृच्छ्रेणोत्पादितश्चायं न रामं नेतु-मिच्छसि" (रा १।२०।१०) इत्यादौ तु सार्द्धाष्टवर्षविवक्षायामर्थोपपत्त्यदर्शनात् सहस्रपरि-च्छेदक एव तत्र षष्टिशब्दो नेयः; वर्षशब्दश्चाहोरात्राभिप्रायः। तेनाहोरात्राणां सहस्राणि षष्टिमितानि तदर्थः॥ तत्र चाहोरात्रयोर्विविच्य गृहीतयोर्द्वित्वेन तत्संख्योपपादनात् फलतस्तदर्द्ध करणादह्नां त्रिंशत्सहस्राणि संपद्यन्ते। तथा च रामचन्द्रस्य विश्वामित्रसहगमने काले तत्पितु र्दशरथस्य (८३।४) त्र्यशीतिवर्षाणि चत्वारो मासाश्च भुक्तायुर्दायकालोऽवसीयते॥ ०॥ यत्तु वर्षशब्दस्य क्वचिदहःपरत्वं क्वचिद्वाहोरात्रपरत्वमित्येवं द्वैविध्यकरणादव्यवस्थया केचि-द्विषीदन्ति तदयुक्तम्। भचक्रसम्पूर्णभोगस्यैव संवत्सरपदार्थतया गुरुसूर्य्यचन्द्रादिभचक्र भोगवत्—

पृथिवीभोगस्य दैनन्दिनस्य पृथिव्यपेक्षया संवत्सरस्याहोरात्रात्मकतयैवोपपाद्यत्वात् तस्याहोरात्रस्य समष्ट्याऽवयुत्य वाऽहःशब्देनाहोरात्रशब्देन वा व्यपदेशे फलसाम्यादुभयथापि यथेच्छं व्यवहर्तुं सुशकत्वात्॥

*दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
रामो राज्यसुखं भुक्त्वा स्वर्गलोकमुपागमद्॥

इत्यनेन तु त्रिंशद्वर्षाणि षण्मासा विंशतिदिनानि चाभिषेकोत्तरं राज्यभोगकालो लभ्यते। एवमन्यत्राप्यूह्यम्। अस्ति खलु भूयसीभिरेव संख्याभिरायुर्वर्षनिर्देशो परिणतरुचीनां

* दशवर्षसहस्राणीति। १०८०० एतावद्वर्षैः ३० वर्षाणि॥ १०८० वर्षैः ३ वर्षाणि॥ ११८८० वर्षैः ३३ वर्षाणि॥ तत्र ८८० वर्षैः २ वर्ष ५ मा० १० दिन—एभिर्न्यूनिते ३३ वर्षैः ३० वर्षाणि ६ मासाः २० दिनानि लभ्यन्ते। एतावान् काल एव ११००० वर्षशब्देनोच्यते। अस्य हि रामभद्रस्य षोडशे वर्षे धनुर्भङ्गकरणम्। वर्षमेकं गृहेऽवस्थानम्। ततश्चतुर्दशाब्दों वनवासः। एवमेकत्रिंशद्वर्षाणि जीवनस्य पूर्वो भागः। ३०-६-२० एतावान् जीवनस्योत्तरो भागः। तदित्थम् ६१– – ० एतावती राम-भद्रस्य भूलोके स्थितिः॥ तत्रापि २ व० ६ मा० १० दि० एतावदस्य दशरथप्रदत्तमायुः॥ अवशिष्टं तु ५८ व० ६ मा० १० दि० एतावदिह रामभद्रस्य स्वं जीवनमायुरस्माद्रामायणवचनादवसीयते इति बोध्यम्॥

परिभाषया प्रवर्तमानानां प्रायेण पौराणिकानां विचित्राख्यानशैली। तामननुसंधाय संभवानुसारेणैदंपर्य्यमगमयित्वा यथाश्रुतेनैवार्थेन परितृप्ता अशिक्षिता अगृहीतपरिभाषा बालप्रज्ञा भूयसा धर्म्मं च विज्ञानं च विप्लावयन्ति त उपेक्ष्याः यथासंभवं तु क्वचित्प्राणात्मकवशिष्ठादिप्रतपनकालाभिप्राया अप्येते शब्दा उन्नेया इति दिक्॥

॥ इत्यायुर्दायाधिकारः ॥

अथ व्यक्तिबहुत्वाधिकारः।

इदमत्रापरं बोध्यम। य एषोऽयमुद्भावकेन द्रष्ट्रा स्वात्मन्याराधितो वशिष्ठादिप्राणस्तस्य द्वे गती भवतः। पतनं च सन्तननं च। यान्येव खलु परीक्षकैस्तत्र भवद्भिः पारोवर्य्यविद्भिः पातकोपपातकमहापातकातिपातकसंज्ञाभिर्विभज्य व्यवस्थापितानि पतनीयानि कर्माणि तेष्वासक्त्या स तस्यात्मा पततीत्याहुः। पितृपरम्परागतः स ऋषिरात्मनश्च्यवत इत्यर्थः। यस्य पुत्रपौत्रादिसंतानानुत्पत्त्या निर्वंशो भवति तस्याप्ययमात्मनः स ऋषिश्च्यवते इत्यपरं पतनम्। अत एव यस्यात्मनः पुत्रपौत्रादिभिः सन्तानो भवति तस्यापतनादपत्यं सन्तान इत्याहुः। तथा च—धर्म्मपरावेतौ शब्दौ—अपत्यं च सन्तानश्च। तौ धर्म्मपरौ सन्तौ तदविनाभावात् तादात्म्याध्यवसायात् तद्धर्म्मयोजके पुत्रपौत्रादिव्यक्तिविशेषे प्रयुज्येते। तदिदमपत्यं द्विधा विभज्यते अनन्तरं चान्तर्हितं च। पुत्रोऽनन्तरम्। पौत्रप्रभृति त्वन्तर्हितम्,पुत्रेणव्यवहितत्वात्। तस्मिंश्चान्तर्हितेऽपत्ये गोत्रशब्दो निरूढः। अत एव यत्र प्रथमा प्रकृतिरात्मनैव विवक्ष्यते यावता वा पितापुत्रौ न तत्रायं गोत्रशब्दव्यवहारः। यत्र तु "पितैवाग्रेऽथ पुत्रोऽथ पौत्र"—इति प्रवरश्रुतिसिद्धास्त्र्यवराः सन्तानव्यक्तयो विवक्ष्यन्ते तत्रैवायं गोत्रशब्दः प्रवर्तते। "त्रिः सन्तनोति—पितरं पुत्रं पौत्रम्"—इति श्रुतेः, "अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्"—इति व्याकरणस्मृतेश्च त्र्यवरेष्वेव सन्तानेषु गोत्रशब्दसिद्धेः। इह हि गोत्रव्यवहारस्य तत्प्रवर्त्तकारब्धत्र्यवरव्यक्तिविवक्षानिबन्धनत्वमत एव पौत्रादिभ्य एव गोत्रप्रत्यया नानन्तरापत्यादित्यैदम्पर्य्यमेवास्याः स्मृतेरिष्यते न तु प्रथमप्रकृतेरनन्तरापत्यस्य च तद्गोत्रे प्रवेशाभावे तात्पर्य्यं नेयम्। गोत्रप्रवर्तकस्यैव गोत्रारम्भकतया तस्य तद्बहिर्भावानवक्लृप्तेः। तत्र च पौत्रादिषु गोत्रापत्यताया ऐकरूप्येण वर्त्तमानतया गोत्रापत्यविवक्षायां यदि चतुर्थो यदि विंशो यदि वा षष्टितमोऽद्यतनो वाऽपत्यात्मा विवक्षितः स्यात् सर्वत्रैक एवापत्यप्रत्ययो भवति—न त्वनन्तरापत्यनिबन्धनाया अपत्यप्रत्ययपरम्परायाः प्रसरस्तत्रापद्यते। व्यक्तिभेदेऽपि प्रत्ययो-

त्पत्तिप्रयोजिकाया गोत्रापत्यतायाश्चतुर्थादिषु सर्वत्रैकत्वान्नानाप्रत्ययोत्पत्तिनिमित्तानुपलब्धेः। विंशैकविंशयोरैकभव्येन वशिष्ठापत्यत्वे सिद्धे तत्रैकविंशविवक्षायां वशिष्ठापत्यस्य पत्यमयमित्येवं सान्तराख्यानस्यानौचित्याच्च । अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थ इति सिद्धान्तात् कृतेनापत्यप्रत्ययेनैवोत्तरापत्यस्यापि बोधे संभवति पुनस्तद्बोधार्थं प्रत्ययान्तरोत्पत्तौ सामर्थ्यालाभाच्च। एतदेवाभिप्रेत्याह भगवान् पाणिनिः 'एको गोत्रे'—इति। तेन गर्गस्यापत्यं गार्ग्यः। तत्पुत्रोऽपि गार्ग्यः। विंशः षष्ठितमोऽद्यतनश्च गार्ग्य एव। एवं तृतीयः शततमोऽद्यतनश्च वाशिष्ठ इति दिक्॥

अथापर आह। यस्योद्भावकस्य प्रथमोपदेशकस्य प्रथमवशिष्ठस्यात्मा निदिष्टरीत्या वशिष्ठप्राणेन संपन्नोऽभूत्, तस्य पुत्रे च पौत्रादिगोत्रसन्ताने च संतानितस्य तस्यैवात्मनोऽनुवर्त्तनात सर्वेषामेव तद्गोत्रजातानां वशिष्ठत्वं च वशिष्ठापत्यत्वं च वसिष्ठजनकत्वं चेति त्रिधाप्युपपद्यन्ते व्यवहाराः। "आत्मा वै जायते पुत्रः"–इति श्रुतेः॥ तेन प्रथमो वशिष्ठ एव। उत्तरस्तु पुत्रपौत्रादिर्वसिष्ठश्च वासिष्ठश्च। अयं तु विशेषः। व्यक्तिविशेषग्रहणानपेक्षया सर्वेषां तद्गोत्रजातानां युगपद्ग्रहणविवक्षायां तु वशिष्ठा इत्येव व्यपदेशो न त्वपत्यप्रत्ययः क्रियते । वशिष्ठप्राणात्मकत्वं हि वशिष्ठगोत्रत्वम्। गोत्रत्वं च बहुव्यक्तिविषयम्। अत एव यत्र वचनेन गोत्रत्वं विवक्षितं तत्रापत्यत्वस्याविवक्षितत्वादपत्यप्रत्ययायोगः। यदि तु कस्मिंश्चिद्गोत्रजे प्रथमवशिष्ठापत्यत्वमेव विवक्ष्यते तदा भवत्येवापत्यप्रत्ययो वैदो वैदाविति । एतदभिप्रेत्याह भगवान् पाणिनिः–"एकोगोत्रे" इति॥ गोत्रजे वाच्ये एकत्वविशिष्ट एवापत्यप्रत्ययेन युज्यते न बहुत्वविशिष्ट इत्यर्थः। एक इति द्वित्वविशिष्टस्याप्युपलक्षणम्। गोत्रत्वस्य बहुव्यक्तिविषयतया एकव्यक्तिवद्व्यक्तिद्वयेनापि तदनुद्बोधात्।

एष च नियमो व्यवहारवैचित्र्याद्व्यवस्थितविषयः, तेनात्रिभृगुकुत्सवशिष्ठगोतमाङ्गिरोयस्कादिषु बहुत्वेऽपत्यप्रत्ययाभाव एव। आत्रेयो अत्रयः। भार्गवो भृगवः,। कौत्सः कुत्साः। वाशिष्ठो वशिष्ठाः। गौतमो गोतमाः। आङ्गिरसोऽङ्गिरसः। यास्को यस्काः। इत्यादयः। कुषीतकादिषु क्वचिद्विकल्पः। कौषीतकाः कुषीतकाः। क्वचित्पुनर्बहुत्वविवक्षायामपि दृश्यतेऽपत्यप्रत्ययो यथा—गौपवना माठरा वैष्णुवृद्धा इत्यादयः। एतच्चाभियुक्तप्रयोगादवसेयम् इति दिक्॥

अथापर आह वशिष्ठप्राणात्मकत्वाविशेषात् प्रथमपुरुषवद्व्यवहितानामपि पुरुषाणां वशिष्ठत्वे निर्विवादे चतुर्विंशवशिष्ठानन्तरापत्यत्वविवक्षायां पञ्चविंशस्य वाशिष्ठत्वं कस्मान्न व्यपदिश्यते इत्यत आह—'एको गोत्रे" इति। गोत्रापत्यस्यापत्यत्वेवाच्ये एकएवशब्दः प्रथमपुरुषाभिप्रायः प्रत्ययेन युज्यते न त्वन्तर्हितोऽपि सर्वो यथेच्छम्। प्रथमपुरुषस्य चायं पञ्चविंशो गोत्रापत्यं भवति नानन्तरापत्यम्। तस्मात् वाशिष्ठ एवेति दिक्॥

अथापर आह "एको गोत्रे" — इति ब्रुवता त्रिधा प्रत्ययनियमः क्रियते । गोत्रापत्य प्रत्ययान्ताद् गोत्रापत्यप्रत्ययो नास्ति । गोत्रापत्यप्रत्ययान्तादनन्तरापत्यप्रत्ययो नास्ति । अनन्तरापत्यप्रत्ययान्तादनन्तरापत्यप्रत्ययो नास्ति । अनन्तरापत्यप्रत्ययान्ताद् गोत्रापत्यप्रत्ययस्तु भवत्येव । यथा पुरात्वे गोतमो नाम कश्चिद्रहूगणपुत्रो महर्षिर्बभूव । स विदेहस्य माथवस्य राज्ञः पुरोधा आसीत् । स मन्त्रकृदासीत् । तस्य पुत्रो नोधा नाम । स प्रथमो गौतमः । तस्य गोत्रे शततमो वा षष्टितमो वा कश्चिदुपवेशो नाम गौतमो बभूव । अथौपवेशिररुणो नाम गौतमः, अथारुणिरुद्दालको नामौपवेश्यो गौतमः । अथौद्दालकिः श्वेतकेतुरारुणेय औपवेश्यो गौतमः । सोऽयमुद्दालको गौतमः कुरुपञ्चालानां ब्रह्मपरिषदि ब्रह्मासीत् । एष ह याज्ञवल्क्य-समकालीन आसीत् । इदानीन्तना गौतमगोत्राः प्रायेण सर्वेऽप्यस्यैव वंशधरा अनुमीयन्ते इत्यूह्यम् । तदित्थमनन्ता वशिष्ठाः अनन्ता एव भृगवो जमदग्नयो ऽङ्गिरसो, भरद्वाजाश्चोपपद्यन्ते समकालाश्च भिन्नकालाश्चेत्यवधेयम् ।

परे त्वाहुः । चतुर्विधः खल्वयम् जातिव्यवहारो द्रष्टव्यः । यथोक्तम्—

असर्वलिङ्गा बह्वर्था सकृदाख्यातनिर्ग्रहा ॥
आकृतिग्रहणाजाति र्गोत्रं च चरणानि च ॥"—इति ॥

तत्र गोत्रमितिबीजिपुरुषारब्धापत्यव्यक्तिपरम्परायाः संज्ञा । गोत्रेष्वेव त्वेते वशिष्ठादयः शब्दा निरूढा न व्यक्तिषु । अथापि यथैवाकृत्यनुगतजातौ व्युत्पन्नोऽयं गोशब्दः सामर्थ्याद्व्यक्तिषु दृश्यते गामानय गां गृहाणेति, एवमयं गोत्रानुगतजातौ व्युत्पन्नो वशिष्ठशब्दोऽपि सामर्थ्याद्व्यक्तिषु प्रयुज्यते । इयांस्तु विशेषः । गोर्जातो गौरेव । अश्वाज्जातोऽश्व एव । नापत्यप्रत्ययैरेषु व्यवहारा भवन्ति । इह पुनर्वशिष्ठाज्जातो वशिष्ठश्च भवति वाशिष्ठिश्च वाशिष्ठश्च । तत्र गोशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य गोत्वस्योत्पत्तिशिष्टत्वात् सर्वास्वेव व्यक्तिष्वनारभ्य गृहीतत्वात् प्रकृत्यभावादेव तत्रापत्यप्रत्ययो नोपपद्यते । इह तु वशिष्ठशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य वशिष्ठप्राणस्य सर्वसाधारणस्यापि वैशेष्यादेकस्यां तपस्विव्यक्तावुत्पन्नशिष्टतया तदुत्तरसंतानव्यक्तिपरम्परायां तन्मूलव्यक्तित एव तस्य प्राणविशेषस्यारभ्य गृहीतत्वात् तस्या एव व्यक्तेः प्रकृतित्वमास्थायापत्य प्रत्ययस्तत्रोपपद्यते । एतदेवहि तत्रोपचारभेदे मूलं पश्यामः ॥ ननु यत्रापि न गोत्रानुगता जातिस्तत्रापिदृश्यतेऽपत्यप्रत्ययानुगमः । सूताज्जातः सूतश्च सौतिश्चेति । सत्यम् । सकृदाख्यातनिर्ग्रहा हीयं जातिर्नाकृतिग्रहणा । आकृतिग्रहणायामेव तु प्राणविशेषस्यौत्पत्तिकत्वमवधारयामः । सूतादिकं तु वशिष्ठादिवदेवोत्पन्नशिष्टतया गुणविशेषानुग्रहाद् गृहीतं यशोनामैव कयाञ्चिद् व्यक्तौ निरूढं प्रथते । अत एव तस्या व्यक्तेः प्रकृतित्वाभ्युपगमादुपपद्यते एव तत्राप्यपत्यप्रत्ययोपचार इति बोध्यम् । तदित्थं वशिष्ठादिप्राणवचनानां गोत्रप्रवर्त्तकतयाध्यवसितानां जातिशब्दत्वाभ्युपगमादुपपद्यन्त एवासंख्याता व्यक्तयो वशिष्ठशब्दा इति दिक् ॥

॥ इति व्यक्तिबहुत्वाधिकारः ॥

अथ गोत्रप्रवर्तकाधिकारः ।

तत्रादौ गोत्रमीमांसायामनेकदर्शनानि भवन्ति । "वंशपरम्पराप्रसिद्धं गोत्रम्"— इत्येवं तावदेका दृष्टिः । अत्रहि विज्ञानेश्वरादीनां पक्षपातः ॥ १ ॥ अथ "समानेऽपि ब्राह्मणे कुढितोऽत्रिरितिस्मरणलक्षणं गोत्रम्"—इत्येका दृष्टिः । अत्र भट्टपादप्रमुखानां पक्षपातः ॥ २ ॥ अथ "प्रवरर्षिसम्बद्धा ऋषयो गोत्रम्"—इत्येका दृष्टिः । प्रवरैर्गोत्राणीति सूत्रयतां सत्याषाढा-दीनामत्रैव पक्षपातः ॥ ३ ॥ अथ 'भृग्वङ्गिरोऽत्रयः कश्यपो वशिष्ठविश्वामित्रागस्त्यश्चेत्येते सप्त ऋषयः स्वापत्यानां गोत्रम्'—इत्यन्या दृष्टिः । एवं हि पश्यतां वृद्धानां मते सप्तैव गोत्राणि भवन्ति नासंख्यातानि ॥ ४ ॥ अथ 'भृग्वङ्गिरोऽत्रीणां कश्यपस्य वशिष्ठविश्वामित्रागस्त्यानां चेत्येतेषां सप्तानामृषीणामपत्यं गोत्रम्'—इत्यन्या दृष्टिः । एव हि पश्यतां वृद्धानां मतेऽसंख्या-तानि गोत्राणि न सप्तैव गोत्राणि ॥ ५ ॥ अथ सप्तर्ष्यपत्यानि स्वापत्यभूतानां परेषां पूर्वेषां च सप्तर्षीणां गोत्राणीत्यन्या दृष्टिः ॥ ६ ॥ अथ सप्तर्ष्यपत्यानि स्वापत्यभूतानां परेषामेव गोत्राणि न पूर्वेषाम्—इत्यन्या दृष्टिः । न च परम्परयाऽस्मदादीनामपि सप्तर्ष्यपत्यतया गोत्रत्वापत्तिः 'प्रसिद्धस्यैव तन्निरासात् । गोत्रत्वेन प्रसिद्धस्य सप्तर्ष्यपत्यस्यैव गोत्रत्वात् ॥ ७ ॥ अथ 'जम-दग्निः, गोतमभरद्वाजौ, अत्रिः, कश्यपः, वशिष्ठः, विश्वामित्रः, अगस्त्यः इत्येतेऽष्टावृषयः स्वापत्यानां गोत्रमित्यपरा दृष्टिः । अस्यां दृष्टावष्टौ गोत्राणि नाधिकानि ॥ ८ ॥ अथ अगस्त्या-ष्टमानामेषां सप्तर्षीणां यदपत्यं तद्गोत्रम्'—इत्यपरा दृष्टिः । एवं हि बौधायनादयः पश्यन्ति। तत्रेदमाक्षिप्यते—जमदग्न्याद्यगस्त्यष्टमर्ष्यपत्यस्य गोत्रत्वे केवलभृगूणां केवलाङ्गिरसां च सप्तर्ष्यपत्यत्वाभावाद् गोत्रत्वं न स्यात् । ततश्च 'एक एव ऋषिर्यावत् प्रवरेष्वनुवर्त्तते । तावत्स-मानगोत्रत्वमृते भृग्वङ्गिरोगणाद्, इति बौधायनोक्तपर्य्युदासानुपपत्तिः । हरितगोत्रावयवमि-त्यादिव्यवहारानुपपत्तिश्च स्यादिति । अत्रोच्यते । नेष्यते नाम केवलभृगूणां केवलाङ्गिरसां च गोत्रत्वम् । बोधायनवचने तु गोत्रशब्दः प्रवरपरः । तेन भृग्वङ्गिरोगणादन्यत्रैकप्रवरानु वृत्या समानप्रवरत्वं विवाहप्रतिबन्धकमिति बौधायनशास्त्रार्थः ।

ततो न पर्य्युदासानुपपत्तिः । गोत्रसदेशपाठात् गोत्रभूतभृग्वङ्गिरोगणसादृश्याच्च हरितगोत्रादिगोत्रपदव्यवहारप्रवृत्तिरिति न व्यवहारानुपपत्तिरपि युज्यते वक्तुम् । तस्मादग-स्त्याष्टमसप्तर्ष्यपत्यान्येव गोत्रं, न केवलभृगवः, केवलाङ्गिरसो वा गोत्रमिति सिद्धम् । ततश्चा-ष्टिषेणादीनां विष्णुवृद्धादीनां च स्वस्वगणेऽपि सगोत्रत्वव्यवहारो नास्त्येव इत्याह प्रवरमञ्ज-रीकारः॥ सगोत्रत्वाभावेऽपि नैषां स्वस्ववर्गे विवाहः प्रवर्तते प्रवरैक्यनिबन्धनत्वेन तन्निरासात् । इत्याह स्मृत्यर्थसारकारः । एतदर्थमेव तु विवाह्यकन्याविशेषणेषु—'असमानार्षगोत्रजाम्'—

इति पठ्यते । अन्यथा सगोत्रत्वेनैव सर्वत्र विवाहप्रतिषेधसिद्धौ तत्पार्थक्येन समानार्ष त्वपर्य्युदासः क्रियमाणो व्यर्थः स्यादित्याहुः ॥ ९ ॥ पुनराक्षिप्यते, जमदग्न्याद्यगस्त्याष्टमसप्तर्ष्यन्वयस्य गोत्रत्वेऽभ्युपगम्यमाने वशिष्ठकश्यपादीनां गोत्रत्वं न स्यात् । तेषां सप्तर्षित्वेन सप्तर्ष्यपत्यत्वाभावात्—इति अत्रोच्यते । प्रतिकल्पं वशिष्ठादीनां भिन्नतया तत्पूर्वभाविवशिष्ठाद्यपत्यत्वेनैषां वशिष्ठादीनामपि सप्तर्ष्यपत्यत्वं नासिद्धमितिसिद्धमेव तेषामपि गोत्रत्वं प्रतिपद्यते॥६॥ अथ केचित् । अगस्त्याष्टमानामृषीणामपत्यानि पूर्वेषामृषीणां. परेषां च स्वापत्यानां गोत्राणि-इति पश्यन्ति ॥ १० ॥ वृद्धास्त्वाहुः—अगस्त्याष्टमानामपत्यानि स्वापत्यभूतानां परेषामेव गोत्राणि न पूर्वेषाम्—इति ॥ ११ ॥ परेतु पश्यन्ति । प्रवरैर्गोत्राणीति सत्याषाढवचनात् प्रवरर्षिसम्बद्धा ऋषयो गोत्रम्'—इति । अस्यां दृष्टौ केवलभृगूणां केवलाङ्गिरसां सप्तर्षीणां च गोत्रत्वमञ्जसैवोपपद्यते ॥ १२ ॥ अथवा 'प्रवरान् व्याख्यास्यामः । तैर्गोत्राणीति सत्याषाढवचनाद् 'यमधिकृत्य प्रवराम्नानं तद् गोत्रम्'—इत्येषा दृष्टिः । तथा चार्ष्टिषेणादीनां विष्णुवृद्धादीनां चाधिकारेण प्रवराम्नानात् सिद्धं गोत्रम् ।

यत्त्वेवं सति भृगोरङ्गिरसश्च गोत्रप्रवर्तकत्वाभ्युपगमात् तदनुवृत्या जामदग्न्ययोर्वत्सविदयोः परस्परमिवार्ष्टिषेणादिभिरपि सगोत्रत्वापत्तिः ।

तथा च वत्सयस्कयोर्यस्कादीनां चतुर्णां च परस्परं विवाहो न स्यात्, सगोत्रत्वादिति केचिदाक्षिपन्ति । तदसत् ।

एक एवऋषिर्यावत् प्रवरेष्वनुवर्तते ।
तावत्समानगोत्रत्वमृते भृग्वङ्गिरोगणात् ।

इति बौधायनोक्तेर्भृग्वङ्गिरोगणाभ्यामन्यत्रैवैकर्षिसाम्यं सगोत्रत्वप्रयोजकं नत्वनयोरपीति सिद्धान्तादोषात् । यदप्याहुः एवं सति समानप्रवरत्वस्य विवाहप्रतिबन्धनिमित्तत्व स्मरणं व्यर्थं स्यात् । सगोत्रत्वेनैव तन्निर्वाहादिति तदप्यसत् । वत्साष्टषेणयोर्विदार्ष्टिषेणयोः पृषदश्वरथीतरयोश्च भिन्नयोरपि विवाहप्रतिबन्धाय प्रवरैक्यस्यापि तन्निमित्तत्वेन स्मरणीयत्वात् । भृग्वङ्गिरोगणे हि तावदेकर्ष्यनुवृत्तावपि सगोत्रत्वाभावस्यान्यत्र व्यवस्थापितत्वात् ॥

अथवाऽलमनेन केषाञ्चिच्छुष्कविचारेण । वस्तुतस्तु गोत्रशब्देनान्तर्हितापत्यात्मसंनिविष्टमृष्यंशमपेक्षते ॥ यथा हि साप्तपुरुषे सापिण्ड्ये सप्तस्वपत्येषु पितृदेहस्थाः सोममात्रावयवा अनुवर्तन्ते । एवमेव पितृदेहस्था भृग्वङ्गिरोऽत्र्यादिप्राणात्मकर्षिमात्रावयवा उत्तरोत्तरमपतितेष्वपत्येषु परःसहस्रेष्वप्रतिबन्धमनुवर्तन्ते । त एवोत्तरोत्तरसन्तानपरम्परासु

सन्तानिता ऋष्यंशा गोत्रम् । तत्सम्बन्धादेव च तदुपलक्षितान्तर्हितापत्यं गोत्रम् । तथैवान्तर्हितापत्यपरंम्परापि गोत्रम् । सा च कुतश्चिदेकस्माद्बीजिपुरुषादारब्धा यजमानान्ता नानापुरुषकुलक्रमरूपा, विक्रमविशिष्टकुलरूपा वा । तन्निर्वाहकाश्च सर्वा एव पुरुषव्यक्तयो गोत्रस्य रूपम् तत्रकेनाप्येकेन मणिना गृहीतेन मालाग्रहणवत् मूलपुरुषेण वा मध्यस्थेन वा यजमानेन वा केनापि सुविज्ञातेन सा परम्परा विज्ञापयितुं शक्यते । यस्यां च पुरुषपरम्परायां शाण्डिल्यऋषिरन्तर्निविष्टः सा परम्परा शाण्डिल्य गोत्रं स्यात् । एवं सर्वत्र प्रतिपत्तिः । तत्र सर्वेषामविशेषेण गोत्रलक्षकतया व्यवहारप्रवर्त्तनम् समगोत्रेऽपि नानागोत्रताप्रसिद्धिप्रसङ्गाद्व्यवस्थया विशृङ्खलतापद्येत ।

तस्मान्नियता एव केचित्सप्तर्षिशब्दप्रसिद्धाः सप्तपुरुषा पुरा ब्रह्मावर्तादियज्ञप्रवरणे गोत्रस्वरूपनिर्वाहकतया निरूढास्तानेवारभ्य तत्कालादेताः सप्तैव कुलशाखा ब्राह्मणानां प्रवर्तन्ते स्म । अथ कालक्रमेण तदपत्यविशेषाणां प्रसिद्ध्या ततोऽपि गोत्रव्यवहारप्रवृत्तावष्टौ गोत्राण्यभवन् । तान्यपि प्राचीनैरत्यादरेण सुगृहीतानीत्यतस्तदनुसारेणेह तान्युदाहरामः ।

आदौ तावन्मूलगोत्राणि सप्तैवासन् । भृगवः, अङ्गिरसः, अत्रयः, वशिष्ठाः, अगस्तयः, कश्यपाः विश्वामित्राश्चेति । एतद्गोत्रसप्तकान्तर्निविष्टा एवैते सर्वे ब्राह्मणा लोकेऽवधार्यन्ते । एतद्बहिर्भूतानामब्राह्मणत्वात् ॥ तत्रेदं भार्गवं गोत्रं द्विशाखं समपद्यत—जामदग्न्यं च केवलं च । अथाङ्गिरसं च त्रिशाखम्–गौतमं, भारद्वाजं केवलं च ॥ आत्रेयादीनि त्वेकशाखानि । तेनैतानि दश गोत्राणि भवन्ति—जामदग्न्म्, भार्गबम्, गौतमम्, भारद्वाजम्, आङ्गिरसं, आत्रेयम् वाशिष्ठम्, आगस्त्यम् काश्यपम् वैश्वामित्रं चेति ॥ अगस्त्याष्टमगोत्रवादिनां तु केषांचिन्मते केवलभृगवः केवलाङ्गिरसश्च परिहीयन्ते । तदसंग्रहश्च नेष्यते । विवाहप्रतिबन्धकसगोत्रताया एष्वेव दशसु व्यवतिष्ठमानत्वात् । न च केवलभृगूणां जामदग्न्येन संग्रहः शौनकगोत्रीयाणां वत्सगोत्रीयैर्विवाहस्याप्रतिषिद्धस्य प्रतिषेधापत्तेः । तस्माद्दशैव गोत्राणि नेयानि ॥४॥

तत्र जामदग्न्यं द्विविधम्—

वात्स्यं वैदं च जामदग्न्यौ वत्सविदौ मिथः सगोत्रौ । जामदग्न्यौ वत्सविदौ मिथः सगोत्रौ । जमदग्नेरुभयान्वयात् तेन तयोः परस्परमविवाहः ॥ त इमे जामदग्न्याः पञ्चावत्तिनः ॥५॥

अथ भार्गवं पञ्चविधम्—

आर्ष्टिषेणम्, यास्कम्, मैत्रयवं, वैन्यम्, शौनकं च । पञ्चाप्येते भिन्नगोत्राः सप्तर्षि-

भिन्नत्वात् । अत्र वैन्या एव श्यैता अप्युच्यन्ते । आर्ष्टिषेणस्य केचिज्जामदग्न्ये प्रवेशमिच्छन्ति एषां परस्परं जामदग्न्यैश्च न विवाहः ॥ ६ ॥

अथ गौतमगोत्रं सप्तविधम्—

कौमण्डम्, दैर्घतमसम् वामदेवम्, आयास्यम्: शारद्वतम्; औशनसम्, कारेणुपालं च । सप्ताप्येते गौतमा मिथः सगोत्राः । गौतमस्य सप्तर्षित्वात् ॥ ७ ॥

अथ भारद्वाजं चतुर्विधम्

गार्ग्यम्, रौक्षायणं, आत्मभुवम्, भारद्वाजं च । चत्वारोप्येते भारद्वाजा मिथः स गोत्राः भारद्वाजस्य सप्तर्षित्वात् ॥ ८ ॥

अथाङ्गिरसं षोढा

वैष्णुवृद्धम, काण्वम्, हारितम् राथीतरम्, कौत्सम, मौद्गल्यं च । षडप्येते भिन्न गोत्राः । सप्तर्षेरनन्वयात् । अङ्गिरसोऽन्वयेऽपि तस्य सप्तर्षित्वाभावात् ॥ ६ ॥

अथात्रेयगोत्रं चतुर्विधम्—

अत्रिगोत्रम्, वाद्भुतकम्, गाविष्ठिरम् मौद्गल्यं च । मुद्गला द्विविधाः पठ्यन्ते–आत्रेया-आङ्गिरसाश्च । तेषामुभयेषां नामसाम्येऽपि गोत्रप्रवरयोर्भेदादन्योन्यं विवाहो न प्रतिषिध्यते । इमे चात्रेयमुद्गलाः पूर्वायाः तिथयाप्युच्यन्ते । तस्य पञ्च भ्रातरः स्मर्य्यन्ते–अतिथयः वामरथ्याः, सुमङ्गलाः, वीजवापाः, धनञ्जयाश्चेति । ते च षडप्येते मुद्गलगोत्रा एवेष्यन्ते ॥ अथ वालेयाः, डालेयाः, कौद्रेयाः, शौभ्रेयाः, वामरथ्याः, गोपवनाः—इत्यत्रेः पुत्रिकापुत्राः ॥ वामरथ्यस्योभयत्र निवेशः संदिग्धः । एते च सर्वेऽप्यत्रयः सगोत्रा इति नैषां परस्परं विवाहः ॥ १० ॥

अथ वासिष्ठं चतुर्धा—

वाशिष्ठम, कौण्डिन्यम्, औपमन्यवम्, पाराशरं च ॥ सर्वेऽप्येते सगोत्राः ॥ ११ ॥

अथागस्त्यं चतुर्धा—

इध्मवाहाः, सोमवाहाः, साम्भवाहाः, यज्ञवाहाश्च । तत्र साम्भवाहाः पारणिनः । यज्ञ-वाहा यववाहाः । सर्वेऽप्येते सगोत्राः ॥ १२ ॥

अथ काश्यपं त्रिविधम्—

नैध्रुवम्, रैभ्यम्, शाण्डिल्यं च। सर्वेऽप्येते सगोत्राः ॥ १३ ॥

अथ वैश्वामित्रं दशधा—

कौशिकम्, रौहितम्, रौक्षकम्, कामकायनम्, कात्यम्, धानञ्जयम्, अजगोत्रम्, आघमर्षणम्, पौरणम्, ऐन्द्रकौशिकं च। अत्र रोहिता एव लोहिता अष्टका वा। रौक्षका एव रेवणाः। कामकायना एव श्रीमताः। अजा एवाश्मरथ्याः। कुशिका एवाश्मरथ्याः। कुशिका जह्नवः इत्याहुः ॥ सर्वेऽप्येते सगोत्राः ॥ तथा चैतान्यूनपञ्चाशद्गोत्राणीति बौधायनः प्राह ॥ १४ ॥

परेतु त्र्यशीतिगोत्राण्याचक्षते।

(१) वत्साः विदाः—इति द्वौ जामदग्न्यौ ॥ २ ॥

(२) आर्ष्टिषेणाः, यस्काः, मित्रयवः, वैन्याः, शुनकाः, वात्स्याः, वत्सपुरोधसौ, वैजवनिमथितौ, वेदविश्वज्योतिषः, शाठरमाठराश्चेति दश भार्गवगोत्राः ॥ १० ॥

(३) कौमण्डाः, दीर्घतमसः, वामदेवाः, अयास्याः, शरद्वताः, औशनसाः, कारणुपालयः, राहूगणाः, सोमराजकाः, बृहदुक्थाः-इति दश गौतमाः ॥ १० ॥

(४) गर्गाः, रौक्षायणाः, आत्मभुवः, भरद्वाजाः,—इति चत्वारो भरद्वाजाः ॥ ४ ॥

(५) कपयः, वृष्णुवृद्धाः, कण्वाः, हरिताः, रथीतराः, कुत्साः, पृषदश्वाः, मुद्गलाः—इत्यष्टावाङ्गिरसगोत्राः ॥ ७ ॥

(६) आद्यात्रयः, गविष्ठिराः, वाद्भूतकाः, मुद्गलाः, अतिथयः, धनञ्जयाः, सुमङ्गलाः इति सप्तात्रेयाः ॥ ७ ॥

(७) वशिष्ठाः कुण्डिनाः, उपमन्यवः, पराशराः, जातूकर्ण्याः,—इति पञ्चवाशिष्ठाः।

(८) अगस्तयः इध्मवाहाः, सोमवाहाः, साम्भवाहाः, यज्ञवाहाः दर्भवाहाः, सारवहाः, पूर्णमासाः, हिमोदकाः, पाणिकाः,—इति दशागस्त्याः ॥ १० ॥

(९) कश्यपाः, निध्रुवाः, रेभाः, शाण्डिलाः, लौगाक्षयः—इति पञ्च कश्यपाः ॥ ५ ॥

(१०) कुशिकाः, रोहिताः, रौक्षकाः, कामकायनाः, कताः धनञ्जयाः अजाः, अघमर्षणाः, पूरणाः, इन्द्रकौशिकाः—इति दश बौधायनोक्ताः ॥ अथ रौहिणाः, रेणवः, वेणवः, जह्नवः, आश्मरथ्याः, उदवेणवः—इति षडाश्वलायनोक्ताः ॥ अथ कथकाः, साहुलाः, हिरण्य-

रेतसः, सुवर्णरेतसः, कपोतरेतसः, घृतकौशिकाः—इति षडंग्योक्ताः ॥ संकलनया द्वाविंशतिर्वैश्वामित्राः ॥ २२ ॥ १५ ॥

इत्येवमेतानि त्र्यशीतिगोत्राणि ॥ ८३ ॥ आपस्तम्बीये तु शताधिका गोत्रकृतः संख्यायन्ते । एतेषामवान्तरभेदात् पुनरसंख्यातान्येव गोत्राणि सम्भवन्ति । अत एव च देशभेदेनेदानीं ब्राह्मणानां गोत्रसंख्या भिन्ना दृश्यन्ते । यथा मिथिलायां षट्त्रिंशद्गोत्रा ब्राह्मणा निवसन्ति । औदीच्यब्राह्मणेषु च द्वात्रिंशद्गोत्राभेदा दृश्यन्ते । एवमन्यत्रान्यत्रापि यथा यत्र देशे गोत्र सत्तेदानीं प्रथते तथान्यत्र प्रपञ्चितम् । याज्ञिकहोतृप्रवराणादावेतान्येव गोत्राण्याश्रेयानीत्याहुः ॥ १६ ॥

वंशविभागो द्वेधा—

शुद्धो द्व्यामुष्यायणश्च । एकगोत्रः शुद्धः । द्विगोत्रो द्व्यामुष्यायणः ॥ तत्रैते शुद्धा ऊनपञ्चाशद्वा त्र्यशीतिर्वाऽऽख्याताः ॥

अथ द्व्यामुष्यायणा द्विविधाः—पूर्वसिद्धाः, समयसाध्याश्च । तत्र पूर्वसिद्धा दशैव पठ्यन्ते शौनकाः, देवताः, वामरथ्याः, धनञ्जयाः, जातूकर्ण्याः, कात्यायनाः, कपिलाः, लौगाक्षयः, संकृतयः, शौङ्गशैशिरयश्चेति ॥ १७ ॥

शौनकः ।

(१८) एषु शौनकः शुनकस्य दत्तः पुत्रः । स हि गृत्समदो नाम ऋषिरङ्गिरसो वृद्धप्रपौत्रः, भरद्वाजपौत्रः शुनहोत्रपुत्रः प्रागासीत् । स पश्चाद् भृगोर्वृद्धप्रपौत्रस्य,च्यवनप्रपौत्रस्य प्रमतिपौत्रस्य रुरुपुत्रस्य शुनकस्य महर्षेरपुत्रस्य दत्तकः पुत्रोऽभूत् । तेनासौ प्रागाङ्गिरसोऽपि पश्चाद् भार्गवोऽभवत् । ततोऽयं द्विगोत्रः समपद्यत । यद्यपि मनुना—गोत्ररिक्थे जनयितुर्न भजेद्दत्रिमः सुत इति स्मरता दत्तकस्य जनकगोत्रसम्बन्धः प्रत्याख्यायते । तथापि पितृसगोत्रत्वप्रयुक्तप्रतिषेधादुभयोरेव तयोर्गोत्रयोरस्य विवाहो निवर्त्तते । "असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः"—इति वचने पितृपदोपादानस्यैतदमर्थात् । दत्तकस्य पुत्रपौत्रादीनामपि गोत्रद्वये विवाहो नास्तीत्यन्यत्र पारिजातादौ द्रष्टव्यम् । तथा च दत्तकस्य गोत्रद्वयेऽपि विवाहप्रतिषेधादमुष्य शौनकस्य दत्तकतया द्विगोत्रत्वमास्थीयते इति दिक् ॥ १८ ॥

देवरातः ॥ २ ॥

(१९) अथ देवरातो विश्वामित्रस्य कृत्रिमः पुत्रः । तस्य गोत्रसम्बन्धे श्रुतिस्मृति

विरोधाद् द्वैधं भवति। स्मृत्या तावदमुष्य पूर्वं भार्गवत्वं पश्चाद् वैश्वामित्रत्वं स्मर्य्यते। श्रुतौ तु पूर्वमाङ्गिरसत्वं पश्चाद् वैश्वामित्रत्वं श्रूयते इति स्पष्टं विरोध उपलभ्यते। तथाहि हरिवंशेऽस्ति कथानकम्॥

और्वस्यैवमृचीकस्य सत्यवत्यां महायशाः।
जमदग्निस्तपोवीर्य्यो जज्ञे ब्रह्मविदां वरः॥ १॥
मध्यमश्च शुनःशेपः शुनःपुच्छः कनिष्ठकः।
देवैर्दत्तः शुनःशेपो विश्वामित्राय भार्गवः।
देवैर्दत्तः स वै यस्माद् देवरातस्ततोऽभवत्॥

अनेनास्य देवरातस्य भार्गवत्वं लभ्यते। तत्र केवलभार्गवत्वं वा जामदग्न्यत्वं वेति यद्यपि नानेन लभ्यते तथाप्यस्य जामदग्न्यत्वमेवास्थेयम्। जमदग्निकनिष्ठभ्रातृतया जामदग्न्यत्वासंभवेऽपि एकस्मादृषेरुत्पन्नयोर्भिन्नगोत्रप्रवरत्वासंभवादस्मिन् केवलभार्गवत्वस्यास्थातुमुपयुक्तत्वात्। अत एवास्य मत्स्यपुराणे जामदग्न्यविदेषु पाठ उपपद्यते। बौधायनादिभिरपि जामदग्न्येष्वेवायं देवरातः पठ्यते। संग्रहे च देवरातानां जामदग्न्यैरविवाहः प्रतिज्ञायते। तस्मादयं देवरातः पूर्वं जामदग्न्यभार्गवः पश्चाद्वैश्वामित्र इति स्मृत्या सिद्धम्॥

अथ बह्वृचश्रुतौ—

अथ बह्वृचश्रुतौ—"यथैवाङ्गिरसः सन्नुपेयां तव पुत्रताम्"—"आङ्गिरसो जन्मनाऽस्याजीगर्तिः श्रुतः कविः" इति आङ्गिरोगणस्थत्वं देवरातस्याम्नायते। तस्मादयं देवरातः पूर्वमाङ्गिरसः पश्चाद् वैश्वामित्र इति श्रुत्या सिद्धम्।

द्वौ देवरातौ स्यातां, ततो न विरोध इति निर्णयसिन्धौ कमलाकरः। धर्मप्रदीपे तु—मातामहैः शुद्धजामदग्न्यैर्देवरातादीनां न विवाह इत्युक्तम्। यदस्तु तदस्तु। विश्वामित्रस्यायं कृत्रिमः पुत्रो देवरातो द्विगोत्र इति हि तवदुभयथाऽप्यसन्दिग्धं सिद्धमिति दिक्॥१९॥

वामरथ्यः॥ २॥

(२०) अथ वामरथ्योऽथमत्रेः पुत्रिकापुत्रः। वामरथ्य इति गणोपलक्षणम्। वामरथ्याः, गोपवनाः, शौभ्रेयाः कौद्रेयाः, डालेयाः, वालेयाः,—इत्येते वामरथ्यादयः षड्गणा अत्रेः पुत्रिकापुत्राः स्मर्य्यन्ते। अत एवैषामत्रिगोत्रे प्रवेशः सिद्धः। जन्मदातारश्चैषां वशिष्ठा वा, विश्वामित्रा वा अथवा केषाञ्चिद्वशिष्ठाः केषाञ्चिद्विश्वामित्रा इति विशिष्य न निर्द्धार्य्यन्ते। तत एषां वशिष्ठैश्च

त्रिश्वामित्रैश्च विवाहसन्देहो न निवार्य्यते । अत्रिवशिष्ठत्वं वा केचिदेषामाहुरत्रिविश्वामित्र त्वं वेति सत्यपि सन्देहे द्विगोत्रत्वमसन्दिग्धं व्यवतिष्ठते ॥ २० ॥

धनञ्जयः ॥ ४ ॥

(२१) धनञ्जयस्तावदुभयथापि पठ्यते । आत्रेयगोत्रे आर्चनानसत्वेन, वैश्वामित्रगोत्रे माधुच्छन्दसत्वेन चेति । तत्र न ज्ञायते आर्चनानसोऽयमौरसः पुत्र पश्चादस्य मधुच्छन्दसः कृत्रिमः पुत्रोऽभूत । अथवा तद्विपर्य्यासेन पूर्वं मधुच्छन्दसः पश्चादार्चनानस इति । द्व्यामुष्यायणप्रवरेतु माधुच्छन्दसत्वस्मरणात् पूर्वमात्रेयत्वं पश्चाद्वैश्वामित्रत्वमित्येव कथंचिल्लभ्यते सर्वथापि द्विगोत्रत्वं निर्विवादम ॥ २१ ॥

जातूकर्ण्यः । ५ ।

अत्रे: कृत्रिमः पुत्रः जातूकर्ण्यो वशिष्ठगोत्रे समुत्पन्नः पश्चादत्रिगोत्रे प्रविष्ट इति पौराणिकाः स्मरन्ति । तस्मादयं द्विगोत्रः ॥ २२ ॥

कात्यायनः । ६ ।

अत्रापि संशय्यते । पूर्वमयं भारद्वाजाङ्गिरसः पश्चाद् वैश्वामित्र इति वा ततो विपरीतं वेति । द्व्यामुष्यायणप्रवरे तु वैश्वामित्रस्य स्मरणात् पश्चादस्य विश्वामित्रगोत्रे प्रवेश इत्येव लभ्यते ॥ २३ ॥

कपिलः । ७ ।

भारद्वाजाङ्गिरस एवायं कपिलः पश्चाद् विश्वामित्रगोत्रे प्रविष्टोऽभूत् । वैश्वामित्रं देवरातं प्रकृत्य "तस्यैते कापिलेयबाभ्रवाः"—इत्यैतरेयब्राह्मणे कापिलेयत्वाम्नानात् कापिलानां वैश्वामित्रत्वस्यावधारितत्वात् । तस्मादिमे कपिला द्विगोत्राः सिद्धाः । इत्थं सप्तैते द्व्यामुष्यायणा अल्पप्रसिद्धा व्याख्याताः । अतः परं बहुलोपचारास्त्रयो द्व्यामुष्यायणाः प्रदर्श्यन्ते । लौगाक्षयः संकृतयः शौङ्गशैशिरयश्चेति ॥ २४ ॥

लौगाक्षिः । ८ ।

अहर्वशिष्ठा नक्तं कश्यपा लौगाक्षय इत्याहुः । ततो द्विगोत्रा एते दैनिके कर्म्मणि गोत्रप्रयोगे वशिष्ठगोत्रा एवैते न तु कश्यपाः । एवं रात्रौ गोत्रप्रयोगे कश्यपगोत्रा एवैते न

वशिष्ठा इत्येवं कालभेदेनैकैकगोत्रत्वेऽपि फलतो गोत्रद्वयसम्बन्धस्य दृश्यमानत्वात्।

अहर्वशिष्ठत्वे नक्तं कश्यपत्वे च हेतुः पुराणे मृग्यः।

संकृतिः । ९ ।

संकृतीनामापस्तम्बादिभिर्वशिष्ठगणमध्ये पाठाद्वशिष्ठत्वमवगम्यते।

वाशिष्ठशक्तेः पाक्षिकवरणाच्च। अथ बौधायनेन केवलाङ्गिरोमध्ये पाठादाङ्गिरस प्रवराच्च तेषामाङ्गिरसत्वमप्यवगम्यते। ततो द्विगोत्रा एते भवन्ति। तत्रोत्पादकतया वशिष्ठानुवृत्तिः आङ्गिरसत्वं तु कृत्रिमत्वात्॥

शौङ्गशैशिरिः । १० ।

अथ शौङ्गशैशिरिः। स च शैशिरेः क्षेत्रजः पुत्रः।
भरद्वाजेन शुङ्गेन विश्वामित्रस्य शैशिरेः।
क्षेत्रे जातो द्विगोत्रर्षिः प्रोच्यते शौङ्गशैशिरिः॥१॥

अथानाम्नातास्तु समयसाध्या भवन्ति—य इदानीं कालेऽपि पुत्रिकापुत्रकृत्रिमदत्तक स्वयंदत्तक्षेत्रजक्रीतादयो दृश्यन्ते। ते यदि प्रतिग्रहीत्रा जातकर्म्मादिभिश्चूडादिभिर्वा संस्कृताः स्युः तर्हि जनयितृगोत्राणि परित्यज्य पालयितृगोत्राण्येव भजन्ते। तत एकगोत्रा एवैते भवन्ति न द्विगोत्राः। ये तु प्रतिग्रहीत्रोपनयनमात्रसंस्कृताः स्युरुपनयनोत्तरं वा प्रतिग्रहीत्रा गृहीताः स्युः ते सर्वे द्विगोत्रा एव। जनकगोत्रस्य पालकगोत्रस्य च तत्रानुवृत्तेः। तदित्थमभिवादनश्राद्धादिगतगोत्रनिर्देशार्थमेषा व्यवस्था भवति। विवाहे तु जातकर्म्मादिभिः प्रतिग्रहीत्रैव संस्कृतानामपि पुत्रिकापुत्रादीनां जनकपालकोभयकुलपरित्यागस्येष्टत्वात् सर्वथा द्विगोत्रत्वमेव मन्यन्ते, न त्वेकगोत्रत्वम् "—अर्थदत्तक्रीतकृत्रिमपुत्रिकापुत्राः परपरिग्रहेणार्षेयेण जातास्ते संहताः कुलानां द्व्यामुष्यायणा भवन्तीति" पैठीनसिना तथैव स्मरणात्॥

अथाब्राह्मणाः—

तत्र क्षत्रियाणां मानवं गोत्रम्। वैश्यानां भालन्दनम्। शूद्राणां तु सर्वेषां काश्यपमिति। अज्ञातगोत्राणां तु सर्वेषां जामदग्न्यं गोत्रमास्थेयमिति दिक्॥

॥ इति गोत्रव्यवस्था ॥

प्रवराः—

अथैतेषु गोत्रेषु प्रवराः प्रदर्श्यन्ते। तत्तद्गोत्रव्यावर्तका ऋषयः प्रवरा भवन्तीत्याहुः। तत्र होतृवरणे तावत्—'पितैवाग्रे, अथ पुत्रोऽथ पौत्र' इति श्रुतेः परावरक्रमेण ते त्रय एव निर्दिश्यन्ते। गोत्रव्यावर्तने तु ते पञ्च वा त्रयो वा द्वौ वा कश्चित्पुनरेक एव वेत्येवं गोत्रभेदेन व्यवस्था। तेषु पञ्चप्रवरा नव, त्रिप्रवरा अष्टषष्टिः द्विप्रवराः षट्। ते यथा—

जामदग्न्ये—

१—वत्सानां पञ्च——भार्गवः, च्यावनः, आप्नुवानः, और्वः जामदग्न्यः – इति। ५
२—विदानां पञ्च——भार्गवः, च्यावनः, आप्नुवानः, और्वः, वैदः—इति। ५

भार्गवे—

३—आर्ष्टिषेणानां पञ्च—भार्गवः, च्यावनः, आप्नुवानः, आर्ष्टिषेणः, अनूपः—इति। ५
४—यस्कानां त्रयः——भार्गवः, वैतहव्यः, सावेदसः – इति। ३
५—मित्रयूणां त्रयः——भार्गवः, दैवोदासः, वाध्र्यश्वः—इति। ३
६—वैन्यानां त्रयः—— ,, वैन्यः, पार्थः—इति। ३
७—शुनकानां त्रयः— ,, शौनकः, गार्त्समदः—इति। ३
८—वात्स्यानां त्रयः— ,, च्यावनः, आप्नुवानः—इति। इमे वत्सा अजामदग्न्याः। ३
९—वत्सपुरोधसोःपञ्चः— ,, ,, ,, वात्स्यः पौरोधसः—इति। ५
१०—वैजवनिमथितयोः पञ्च.. ,, ,, वैजवनिः, मथितः—इति। ५
११—वेदविश्वज्योतिषस्त्रयः- ,, वैदः, वैश्वज्योतिषः—इति। ३
१२—शाठरमाठराणां त्रयः-,, शाठरः, माठरः—इति। ३

गौतमे—

१३—कौमण्डानां पञ्च——आङ्गिरसः, गौतमः, कौमण्डः, औचथ्यः, काक्षीवतः—इति। ५
१४—दीर्घतमसां पञ्च—— ,, ,, दैर्घतमसः ,, ,, —इति। ५
१५—वामदेवानां त्रयः— ,, ,, वामदेवः—इति। ३
१६—अयास्यानां त्रयः— ,, ,, अयास्यः—इति। ३
१७—शारद्वतां त्रयः—— ,, ,, शारद्वतः—इति। ३

१८–औशनसानां त्रयः—	,,	,,	औशनसः—इति ।	३
१९–कारेणुपालीनां त्रय—	,,	,,	कारेणुपाली—इति ।	३
२०–राहूगणानां त्रयः—	,,	,,	राहूगणः—इति ।	३
२१–सोमराजकानां त्रयः—	,,	,,	सौमराजकः—इति ।	३
२२—बृहदुक्थानां त्रयः—	,,	,,	बार्हदुक्थः—इति ।	३

भारद्वाजे—

२३ गर्गाणां पञ्च——आङ्गिरसः, भारद्वाजः, बार्हस्पत्यः, गार्ग्यः शैन्यः,—इति । ५

२४ रौक्षायणानां पञ्च — ,, ,, ,, वान्दनः, मानवसः—इति । ५

२५ भरद्वाजानां त्रयः— ,, ,, ,, —इति । ३

२६ आत्मभुवां पञ्च— ,, ,, ,, मन्त्रवरः, आत्मभुवः,—इति । ५

आङ्गिरसे—

२७ कपीनां त्रयः——आङ्गिरसः, आमहीयवः, औरूक्षयसः—इति ।			३
२८ विष्णुवृद्धानां त्रयः—	,,	पौरुकुत्स्यः, त्रासदस्यवः—इति ।	३
२९ कण्वानां त्रयः—	,,	काण्वः, आजमीढः—इति ।	३
३० हरितानां त्रयः—	,,	आम्बरीषः, यौवनाश्वः—इति ।	३
३१ रथीतराणां त्रयः—	,,	राथीतरः, वैरूपः,—इति ।	३
३२ कुत्सानां त्रयः—	,,	मान्धाता, कौत्सः,—इति ।	३
३३ पृषदश्वानां त्रयः—	,,	पार्षदश्वः, वैरूपः,—इति ।	३
३४ मुद्गलानां त्रयः—	,,	भार्म्यश्वः, मौद्गल्यः—इति ।	३

॥ ३० ॥

(३१)

आत्रेये—

३५ आद्यात्रीणां त्रयः——आत्रेयः, आर्चनानसः, श्यावाश्वः—इति । ३

३६ गविष्ठिराणां त्रयः—	,,	,,	गाविष्ठिरः—इति ।	३
३७ वाद्भूतकानां त्रयः—	,,	,,	वाद्भूतकः—इति ।	३
३८ मुद्गलानां त्रयः—	,,	,,	पूर्वातिथः—इति ।	३

३९ अतिथीनां त्रयः— ,, ,, आतिथः—इति । ३
४० धनञ्जयानां त्रयः— ,, ,, धानञ्जयः—इति । ३
४१ सुमङ्गलानां त्रयः— ,, ,, सुमङ्गलः—इति । ३

वासिष्ठे—

४२ वसिष्ठानां त्रयः——वासिष्ठः, ऐन्द्रप्रमदः, आभरद्वसुः—इति । ३
४३ कुण्डिनानां त्रयः— ,, मैत्रावरुणः, कौण्डिन्यः—इति । ३
४४ उपमन्यूनां त्रयः— ,, ऐन्द्रप्रमदः, आभरद्वसुः—इति । ३
४५ पराशराणां त्रयः— ,, शाक्त्यः, पाराशर्यः—इति । ३
४६ जातूकर्ण्यानां त्रयः— ,, आत्रेयः, जातूकर्ण्यः—इति । ३

आगस्त्ये—

४७ अगस्तीनां त्रयः——आगस्त्यः, माहेन्द्रः मयोभुवः—इति । ३
४८ इध्मवाहानां त्रयः— ,, दार्ढच्युतः, ऐध्मवाहः—इति । ३
४९ सोमवाहानां त्रयः— ,, ,, सौमवाहः—इति । ३
५० साम्भवाहानां त्रयः— ,, ,, साम्भवाहः—इति । ३
५१ यज्ञवाहानां त्रयः— ,, ,, यज्ञवाहः—इति । ३
५२ दर्भवाहानां त्रयः— ,, ,, दर्भवाहः—इति । ३
५३ सारवाहानां त्रय— ,, ,, सारवाहः—इति । ३
५४ पूर्णमासानां त्रयः— ,, ,, पौर्णमासः—इति । ३
५५ हिमोदकानां त्रयः— ,, हैमचर्चिः, हैमोदकः—इति । ३
५६ पाणिकानां त्रयः— ,, पौनायकः, पाणिकः—इति । ३

(३३)

काश्यपे—

५७ कश्यपानां त्रयः——काश्यपः, अवत्सारः, असितः—इति । ३
५८ निध्रुवाणां त्रयः— ,, ,, नैध्रुवः—इति । ३
५९ रेभाणां त्रयः— ,, ,, रैभ्यः—इति । ३
६० शण्डिलानां त्रयः— ,, ,, शाण्डिल्यः—इति । ३
६१ लौगाक्षीणां त्रयः— ,, ,, असितः—इति । ३

(३४) विश्वामित्रे—

६२ कुशिकानां त्रयः—	वैश्वामित्रः	देवरातः, औदलः—इति ।	३
६३ रोहितानां त्रयः—	,,	अष्टकः, रौहितः—इति ।	३
६४ रौक्षकाणां त्रयः—	,,	रैवणः, रौक्षकः—इति ।	३
६५ कामकायनानां त्रयः—	,,	दैवश्रवसः, दैवतरसः—इति ।	३
६६ कतानां त्रयः—	,,	कात्यः, उत्कीलः—इति ।	३
६७ धनञ्जयानां त्रयः—	,,	माधुच्छन्दसः, धानञ्जयः—इति ।	३
६८ अजानां त्रयः—	,,	,, आजः—इति ।	३
६९ अघमर्षणानां त्रयः—	,,	आघमर्षणः, कौशिकः—इति ।	३
७० पूरणानां त्रयः—	,,	दैवरातः, पौरणः—इति ।	३
७१ इन्द्रकौशिकानां त्रयः—	,,	,, ऐन्द्रकौशिकः—इति ।	३
७२ रौहिणानां त्रयः—	,,	माधुच्छन्दसः, रौहिणः—इति ।	३
७३ रेणूनां त्रयः—	,,	गाथिनः, रैणवः—इति ।	३
७४ वेणूनां त्रयः—	,,	,, वैणवः—इति ।	३
७५ जह्नूनां त्रयः—	,,	शालङ्कायनः, कौशिकः इति ।	३
७६ आश्मरथ्यानां त्रयः—	,,	आश्मरथ्यः, बाधूलः इति ।	३
७७ लद्वेणूनां त्रयः—	,,	गाथिनः, रैणव :इति ।	३
७८ कथकानां त्रयः—	,,	काथकः क्राथकः इति ।	३
७९ साहुलानां त्रयः—	,,	सहुलः माहुलः इति ।	३
८० हिरण्यरेतसां द्वौ—	,,	हैरण्यरेतसः इति ।	२
८१ सुवर्णरेतसां द्वौ—	,,	सौवर्णरेतसः इति ।	२
८२ कपोतरेतसां द्वौ—	,,	कापोतरेतसः इति ।	२
८३ घृतकौशिकानां द्वौ—	,,	घृतकौशिकः इति ।	२

(३५)

केचित्त्वेषां त्रयाणां पञ्चानां वा प्रवराणां पौर्वापर्येण संनिवेशे विशिष्याभिनिवेशं नाद्रियन्ति तच्चिन्त्यम् । श्रुतौ तेषां क्रमनिर्देशविधेः कुत्राप्यनुपलब्धेः ॥ ३५ ॥

———

अथैतेषु मतान्तराणि ।

(३६) वत्सानां त्रयो-भार्गवः, च्यवनः, आप्नुवान इति वा, भार्गवः, और्वो जामदग्न्य इति वा ॥ विदानां त्रयो भार्गवः और्वो जामदग्न्य इति ॥ ३६ ॥

(३७) आर्ष्टिषेणानां त्रयो भार्गवः आर्ष्टिषेणः अनूप इति । मित्रयूणामेको वाध्र्यश्वः इति ।

शुनकानामेकः शौनक इति वा गात्र्समद इति वा, भार्गवो गात्र्समद इति द्वौ वा । भार्गव, शौनहोत्रो गात्र्समद इति त्रयो वा ॥ ३७ ॥

(३८) कौमण्डानां पञ्च—आङ्गिरसः औतथ्यः औशिजः गौतमः, काक्षीवत इति वा ।
आङ्गिरसः औशिजः, काक्षीवत इति त्रय एव वा ।
दीर्घतमसां त्रयः—आङ्गिरसः, औतथ्यः, दैर्घतमसः इति ।
वामदेवानां त्रयः—आङ्गिरसः, वामदेव्यो, बार्हदुक्थः इति ।
बृहदुक्थानां त्रयः—आङ्गिरसः वामदेव्यो, बार्हदुक्थः इति ॥ ३८ ॥

(३९) गर्गाणां त्रयः —आङ्गिरसः, शैन्यो, गार्ग्य इति वा ।
भरद्वाजो गार्ग्यः शैन्य इति वा ।

रौक्षायणानां त्रयः—आङ्गिरसः वान्दनो मातवचस इति ।
कण्वानां त्रयः —आङ्गिरसः, घौरः काण्व इति ।
हरितानां त्रयः —मान्धात्रः, आम्बरीषो, यौवनाश्व इति ।
रथीतराणां त्रयः—अष्टादंष्ट्रो वैरूपः पार्षदश्व इति ।
मुद्गलानां त्रयः —तार्क्ष्यो भार्म्याश्वो मौद्गल्य इति ॥ ३९ ॥

(४०) गविष्ठिराणां त्रयः—आत्रेयः, पौर्वातिथो गाविष्ठिर इति ॥ ४० ॥
वसिष्ठानामेको वासिष्ठ इति ।
इध्मवाहानामेक आगस्त्य इति ॥ ४१ ॥

शाण्डिल्यानां त्रयः—काश्यपः, अवत्सारो, दैवल इति वा ।
काश्यपः, अवत्सारो, असित इति वा ।
काश्यपः, असितः, दैवल, इति वा ॥ ४२ ॥

रोहितानां त्रयः— वैश्वामित्रो, रोहितोऽष्टक इति वा ।

वैश्वामित्रो, माधुच्छन्दसोऽष्टक इति वा।
वैश्वामित्रोऽष्टक इति द्वौ वा।
रौत्तकाणां त्रयः— वैश्वामित्रो, रौत्तको, रैवण इति वा।
वैश्वामित्रो, गाथिनो रैवण इति वा।
अजानां त्रयः— वैश्वामित्र, आश्मरथ्यो वाधूल इति।
पूरणानां द्वौ :— वैश्वामित्रः, पौरण इति।
धनञ्जयानां त्रयः— वैश्वामित्रो, माधुच्छन्दस आघमर्षण इति ॥ ४३ ॥

अथ धनञ्जयधर्मप्रदीपे गोत्रप्रवरा यथा :—

जमदग्निगोत्रस्य	जमदग्न्यौर्ववसिष्ठाः ।
भरद्वाजगोत्रस्य	भरद्वाङ्गिरसबार्हस्पत्याः ।
विश्वामित्रगोत्रस्य	विश्वामित्रमरीचिकौशिकाः ।
अत्रिगोत्रस्य	अत्र्यात्रेयशातातपाः ।
गोतमगोत्रस्य	गोतमवसिष्ठबार्हस्पत्याः ।
वसिष्ठगोत्रस्य	वसिष्ठात्रिसांकृतयः ।
काश्यपगोत्रस्य	काश्यपावत्सारनैध्रुवाः ।
अगस्त्यगोत्रस्य	अगस्तिदधीचिजैमिनयः ।
सौकालीनगोत्रस्य	सौकालीनाङ्गिरसबार्हस्पत्यावत्सारनैध्रुवाः ।
मौद्गल्यगोत्रस्य	और्वच्यवनभार्गवजामदग्न्याप्नुवानाः ।
पराशरगोत्रस्य	पराशरशक्तिवसिष्ठाः ।
बृहस्पतिगोत्रस्य	बृहस्पतिकपिलपार्वणाः ।
काञ्चनगोत्रस्य	अश्वत्थदेवलदेवराजाः ।
विष्णुगोत्रस्य	विष्णुवृद्धिकौरवाः ।
कौशिकगोत्रस्य	कौशिकात्रिजमदग्नयः ।
कात्यायनगोत्रस्य	अत्रिभृगुवसिष्ठाः ।
आत्रेयगोत्रस्य	आत्रेयशातातपसंख्याः ।
काण्वगोत्रस्य	काण्वाश्वत्थदेवलाः ।
कृष्णात्रेयगोत्रस्य	कृष्णात्रेयात्रेयावासाः ।
सांकृतिगोत्रस्य	अत्र्याहारात्रिसांकृतयः ।

कौण्डिन्यगोत्रस्य	कौण्डिन्याऽऽस्तीककौत्साः ।
गर्गगोत्रस्य	गार्ग्यकौस्तुभमाण्डव्याः ।
आङ्गिरसगोत्रस्य	आङ्गिरसवसिष्ठबार्हस्पत्याः ।
अनावृकाक्षगोत्रस्य	गार्ग्यगौतमवसिष्ठाः ।
अव्ययगोत्रस्य	अव्ययवलिसारस्वताः ।
जैमिनिगोत्रस्य	जैमिन्युतथ्यसांकृतयः ।
वृद्धिगोत्रस्य	कुरुवृद्धाङ्गिरोबार्हस्पत्याः ।
शाण्डिल्यगोत्रस्य	शाण्डिल्यासितदेवलाः ।
वात्स्यगोत्रस्य	और्वच्यवनभार्गवजामदग्न्याप्नुवानाः ।
सावर्णगोत्रस्य	वात्स्यविदौर्वच्यवनादयः ।
आलम्ब्यायनगोत्रस्य	आलम्ब्यायनशालङ्कायनशाकटायनाः ।
वैयाघ्रपद्यगोत्रस्य	सांकृतिः ।
घृतकौशिकगोत्रस्य	कुशिककौशिकघृतकौशिकाः ।
शक्तिगोत्रस्य	शक्तिपराशरवसिष्ठाः ।
काण्वायनगोत्रस्य	काण्वायनाङ्गिरसबार्हस्पत्यभरद्वाजमीढाः ।
वासुकिगोत्रस्य	अक्षोभ्यानन्तवासुकयः ।
गौतमगोत्रस्य	गौतमावत्सराङ्गिरसाबार्हस्पत्यनैध्रुवाः ।
शुनकगोत्रस्य	शुनकशौनकगृत्समदाः ।
सौपायनगोत्रस्य	और्वच्यवनभार्गवजमादग्न्याप्नुवानाः ।

अथ द्व्यामुष्यायणानाम् ।

देवरातानां	वैश्वामित्रदेवरातौदलाः ।
वामरथ्यानां	आत्रेयवामरथ्यपौत्रिकाः ।
धनञ्जयानां	वैश्वामित्रमाधुच्छन्दसधानञ्जयाः ।
जातूकर्ण्यानां	वासिष्ठात्रेयजातूकर्ण्याः ।
कतानां	वैश्वामित्रकात्योत्कीलाः ।
कपिलानां	आङ्गिरसबार्हस्पत्यभरद्वाजवान्दनमातवचसाः पञ्च
लौगाक्षीणां	काश्यपावत्सारवासिष्ठाः ।
साङ्कृतीनां	आङ्गिरसगौरवीतसांकृत्याः ।

शौङ्गशैशिरीणां आङ्गिरसबार्हस्पत्यभरद्वाजकात्योत्कीलाः पञ्च । इति दिक् ।

एवमादीन्यन्यान्यपि गोत्रविषयमतान्तराणि तत्र तत्रोपलभ्यन्ते तानि—यथायथं वंशपरम्पराप्रसिद्ध्यनुसारेण नेयानि ॥

एते चाश्वलायनबौधायनापस्तम्बसत्याषाढ़ादि-मतभेदा दाक्षिणात्यप्रबन्धानुसारेणोपदर्शिताः । वस्तुतस्तु नैवंविधा मतभेदा धर्म्मशास्त्रे युज्यन्ते ।

धर्म्मं यो बाधते धर्म्मो न धर्मः परिकीर्तितः ।
अविरोधीति यो धर्म्मः स धर्म्मः सद्भिरुच्यते ॥१॥ इति व्यासस्मरणात् ।

युक्तं चैतत् ॥ अन्यथा वस्तुस्थितावज्ञानादन्यथा प्रवर्त्तमानस्यानिष्टापत्तेः । दृश्यते च लोके काश्यपशाण्डिल्ययोः प्रचरितो विवाहः । स चेह मतभेदेनेष्यते च नेष्यते च । काश्यपावत्सारनैध्रुवेति त्रिप्रवरेण काश्यपेन शाण्डिल्यासितदेवलेतित्रिप्रवरस्य शाण्डिल्यस्य विवाहप्रतिषेधाभावेऽपि मतभेदात् काश्यपावत्सारासितेतित्रिप्रवरेण काश्यपेन काश्यपावत्सारशाण्डिल्येति त्रिप्रवरस्य शाण्डिल्यासितदेवलेति त्रिप्रवरस्य वा शाण्डिल्यस्य ऋषिसाम्याद्विवाहानौचित्यात् । स्मर्य्यते हि ऋषिसाम्ये विवाहप्रतिबन्धः—

"पञ्चानां त्रिषु सामान्यादविवाहस्त्रिषु द्वयोः ।
भृग्वङ्गिरोगणेष्वेवं शेषेष्वेकोऽपि वार्य्यते ॥
एक एव ऋषिर्यावत् प्रवरेष्वनुवर्तते ।
तावत्समानगोत्रत्वमृते भृग्वङ्गिरोगणात् ॥ इति ॥ ४६ ॥

तस्मादेते प्रामादिका मतभेदा निराकर्तव्याः । तदुत्तरत्र विवाहसंस्कारे विशदयिष्यामः ॥

अथोपलब्धगोत्राः ।

इत्थं गोत्राणां भूयस्त्वेऽपीदानीं विद्यमाने ब्राह्मणसमाजे यावन्तो गोत्रप्रवरा व्यवहृता उपलभ्यन्ते तान् पृथगिहोपदर्शयामः । तत्र तावद्गोत्राणि अष्टाविंशतिः सन्ति तेषां प्रवरा यथा—

१—शाण्डिल्यगोत्रः—शाण्डिल्यासितदेवलेति त्रिप्रवरः ।

२—गौतमगोत्रो—गौतमाङ्गिरसायास्येति त्रिप्रवरः ।

३—अन्यो गौतमगोत्रो—गौतमवसिष्ठबार्हस्पत्येति त्रिप्रवरः । भिन्नगोत्रावेतौ ।

४—मौद्गल्यगोत्रो—मौद्गल्याङ्गिरसभार्म्यश्वेति त्रिप्रवरः ।

त इमे शाण्डिल्य-गौतम-मौद्गल्य-गोत्रास्त्रिप्रवरा ब्राह्मणाः सामवेदिनश्छन्दोगाः । सामवेदस्य कौथुमीशाखाध्यायिनः । गोभिलमेषां सूत्रम् ।

१—काश्यपगोत्रः काश्यपावत्सारनैध्रुवेति त्रिप्रवरः ।

२—भारद्वाजगोत्रो भारद्वाजाङ्गिरसबार्हस्पत्येति त्रिप्रवरः ।

३—कौत्सगोत्रो मान्धात्राङ्गिरसकौत्सेति त्रिप्रवरः ।

४—विष्णुवृद्धगोत्रो विष्णुवृद्धपुरुकुत्सत्रसदस्य्विति त्रिप्रवरः। विष्णुवृद्धस्थाने आङ्गिरसो वा। भिन्नगोत्रौ स्याताम् ॥

५—ताण्डिगोत्रस्ताण्ड्याङ्गिरोमौद्गल्येति त्रिप्रवरः।

६—कपिलगोत्रः कपिलाङ्गिरोभारद्वाजेति त्रिप्रवरः।

७—कात्यायनगोत्रः कात्यायनविष्ण्वाङ्गिरसेति त्रिप्रवरः।

८—अन्यः कात्यायनगोत्रोऽत्रिभृगुवशिष्ठेति त्रिप्रवरः।

९—जमदग्निगोत्रो जमदग्न्यौर्ववशिष्ठेति त्रिप्रवरः।

१०—कौशिकगोत्रः कौशिकाऽत्रिजमदग्नीति त्रिप्रवरः।

११—जैमिनिगोत्रो जैमिन्युतथ्यसांकृतीति त्रिप्रवरः।

१२—वशिष्ठगोत्रो वशिष्ठात्रिसांकृतीति त्रिप्रवरः।

१३—पराशरगोत्रः पराशरशक्तिवशिष्ठेति त्रिप्रवरः।

१४—कौण्डिन्यगोत्रः कौण्डिन्यास्तीककौशिकेति त्रिप्रवरः। कौशिकस्थाने कौत्सो वा।

१५—अन्यः कौण्डिन्यगोत्रो वशिष्ठमैत्रावरुणकौण्डिन्येति त्रिप्रवरः।

१६—लौगाक्षिगोत्रो लौगाक्षिबृहस्पतिगौतमेति त्रिप्रवरः।

१७—अन्यो लौगाक्षिगोत्रो वाशिष्ठावत्सारकाश्यपेति त्रिप्रवरः।

१८—आत्रेयगोत्र आत्रेयशातातपसांख्येति त्रिप्रवरः।

१९—कृष्णात्रेयगोत्रः कृष्णात्रेयाप्लुवानसारस्वतेति त्रिप्रवरः।

२०—शौनकगोत्रः शौनकभार्गवगार्त्समदेति त्रिप्रवरः।

त एते विंशतिगोत्रास्त्रिप्रवरा ब्राह्मणा यजुर्वेदिनो वाजसनेयिनो यजुर्वेदस्य माध्यन्दिन शाखाध्यायिनः। कात्यायनीयमेषां सूत्रं पारस्करीयं वा।

१।२—वत्सगोत्रः सावर्ण्यगोत्रश्च और्वच्यवनभार्गवजामदग्न्याप्लुवानेति पञ्चप्रवरौ।

३—भार्गवगोत्रः और्वच्यवनाप्लुवानार्ष्टिषेणानूपेतिपञ्चप्रवरः।

४—गार्ग्यगोत्रो गार्ग्यकौशिकमाण्डव्याथर्व-वैशम्पायनेति पञ्चप्रवरः।

त इमे वत्ससावर्ण्यभार्गवगार्ग्यगोत्राः पञ्चप्रवरा यजुर्वेदिनो वाजसनेयिनो यजुर्वेदस्य माध्यन्दिनशाखाध्यायिनः। पारस्करीयं सूत्रं कात्यायनीयं वा। परंतु गार्ग्यगोत्रस्य गार्ग्यकौशिकमाण्डव्येति त्रिप्रवरत्वमेवेच्छन्ति ॥

गौतमगोत्रस्य तु गौतमावत्साराङ्गिरसबार्हस्पत्यनैध्रुवेति पञ्चप्रवरत्वम् ॥

तावेतावपि भिन्नगोत्रौ स्याताम्।

इत्थमष्टाविंशतिः। तत्र चतुर्विंशतिस्त्रिप्रवराः, चत्वारः पञ्चप्रवराः ॥ अपि चैतेषु चतुर्विंशतिर्वाजसनेयिनः, चत्वारश्छन्दोगाः—इति बोध्यमिति दिक् ॥

* इति गोत्रप्रवर्तकाधिकारः *

॥ इति ऋषिनिर्वचनम् ॥

❋ इत्याधिदैविकाध्यायः ❋

* अथ शुद्धयशुद्धिपत्रम् *



पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	६	नृषीणा	नृषीणां
१	८	यथातथ्येन	याथातथ्येन
१	१४	प्रवृत्ति	प्रवृत्ति
३	३	स्थूले	स्थूलैः
३	३	सूक्ष्मे	सूक्ष्मैः
३	४	सर्वं	सर्वं
३	६	निवन्धनाः	निबन्धनाः
३	१२	द्रष्ट्रीणा	द्रष्टॄणां
३	१५	द्वितीयकी	द्वैतीयिकी
३	१५	पाश्चामिकी	पाश्चमिकी
३	२१	विशिप्यन्तं	विशिष्यन्ते
३	२१	तस्यो	तपो
३	२२	ब्राह्म	ब्राह्मणा
३	२२	शुश्रुवांशो	शुश्रुवांसो
३	२४	कुम्मां	कुम्भी
३	२४	द्विधया	द्विधायाः
४	३	शुभ्रवान	शुश्रुवान्
४	७	स्तोमान	स्तोमान
४	११	अग्ने	अग्ने
४	११	वैतेऽवर्ति	वैत आर्ति
४	१२	मागच्छन्	मगच्छन्
४	१५	ज्येष्ठ	जेष्ठः
४	१६	पदवी	पदवीः

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
४	१५	कवीना	कवीनां
४	१६	मृषि	ऋषि
४	१७	पबित्र	पवित्र
४	१७	देत्रानां	देवाना
४	१८	भवतीन्यत्र	भवतीत्यन्यत्र
४	१०	द्वहवो	द्रुहवो
४	२५	पाथिर्वाः	पाथिवाः
५	३	देतता	देवता
५	६	भाव्ज्य	भाज्य
५	८	नैयातिकानि	नैपातिकानि
५	१९	नाम्न्यःच्चे	नाम्न्य च
६	२	यथापथं	यथायथं
६	४	दिवोति	दिवीत
६	९	त्रामान्यत्वं	न्नामान्यत्वं
६	१३	प्रदिष्टाना	प्रदिष्टास्ता
६	१७	सर्बानम्रावेव	सर्वान्म्रावेव
६	२२	विषयकं	विषयकं
६	२३	इत्येतेभस्य	इत्येतेऽस्य
६	२५	आग्न्या	आग्ना
६	२७	त्रिष्ठुप्	त्रिष्टुप्
७	३	अग्निषोमौ	अग्नीषोमौ
७	५	अथादीत्य	अथादित्य
७	५	सवनम्	सवनम्
७	७	रसाधारणं	रसधारणं
७	७	चन्द्रमणा	चन्द्रमसा
७	९	शरद	शरद्
७	१३	तनूनपात	तनूनपात्
७	१४	सवत्या	सरस्वत्या
७	१५	वसिष्ठं मात्रेयं	वासिष्ठमात्रेयं

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
७	१६	अगास्त्यं	आगस्त्यं
७	१६	पितु	पितुः
७	२०	विपाट	विपाट्
७	२०	ऊर्जाहुति	ऊर्जाहुती
७	२१	अरवें	अग्निरेव
७	२१	रष्टावसवा	रष्टौ वसवो
७	२१	बायुश्च	वायुश्च
८	२	नय्यापाश्च	नर्य्यंपाश्च
८	३	येतेष्टौ	मेतेऽष्टौ
८	५	अपानपात्	अपांनपात्
८	६	बाचस्पतिः	वाचस्पतिः
८	७	स्तयोर्विशति	स्त्रयोविंशतिः
८	८	बेनः	वेनः
८	११	अप्साः	आप्त्याः
८	१३	अवपतानश्च	अवपतन्त्यश्च
८	१४	र्तित्तिरीया	तैत्तिरीया
९	४	सैब	सैव
९	५	वृषाकपायो	वृषाकपायी
९	८	सबिता	सविता
९	११	तिश्वानरः	विश्वानरः
९	११	बृषाकपिः	वृषाकपिः
९	१३	अग्नि गृहपतिः	अग्निर्गृहपतिः
९	१३	रूद्रांवैन्द्रों	रुद्रो बेन्द्रो
	१४	दिवस्पत्ति	दिवस्पतिः
९	१४	ब्रह्म	ब्रह्म
९	१७	तिस्त्र	तिस्त्रः
९	१९	सप्तः	सप्त
९	२१	ऋग	ऋग्
९	२३	वेवेपत्न्यः	देवपत्न्यः

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
९	२३	अष्टादशा:	अष्टादश
९	१७	ता	ता:
१०	४	मामुसं	तामुषसं
१०	४	सूर्य्या	सूर्य्यां
१०	६	निम्नुचिः	निम्रुचि
१०	८	तिस्रः	तिस्रः
१०	८	पुंसांदेवता	पुंदेवता:
१०	९	जन्मना	जन्म वा
१०	१०	व्याप्य	व्याप्त
१०	१७	ध्रौत्	ध्नौत्
१०	१७	ह्यत्राद:	ह्यन्नाद:
१०	१८	रत्नं	रश्नं
१०	२३	त्रयर्स्त्रिशत्वेव	त्रयस्त्रिंशत्त्वेव
१०	२४	नैरित्यो	नैर्ऋत्यो
११	१	प्रजापते	प्रजापतेर्द्वादशात्मनो
११	२	अप्रतिध्रिष्या	अप्रतिधृष्या
११	८	स वा	सर्वा
११	९	यद्दश्च	यज्ञश्च
११	१०	प्रजायतिर्वषट्कारयो	प्रजापतिवषट्कारयो:
११	१४	सम्बन्धितथैव	सम्बन्धिस्यैव
११	१४	यथा	तथा
११	१५	प्रजापत्यग्नो	प्रजापत्यग्न्यो
११	१६	सदंश	सदेश
११	२६	द्यावापृथिव्यो	द्यावापृथिव्यो
१२	९	श्वाश्माप्रश्निश्च	श्वाश्मापृश्निश्च
१३	४	व्याताश्च	व्यात्ताश्च
१३	६	सोमद:	सोमवद:
१३	७	बर्हिषद	बर्हिषद्
१३	७	अग्निष्वात्ता	अग्निष्वात्ता

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१२	८	तेषामुत्पत्तेः	तेषामुत्पत्तेः
१२	१०	नोपलभ्मा प्राप्ये	नोपलभामहे
१३	१२	वर्हि	बर्हि
१३	१२	सत्रेते	तत्रैते
१३	१६	विध्न र्यों	विघ्न र्यों
१३	२०	नग्निदग्धा लक्षणाः	नग्निदग्धलक्षणाः
१३	२१	प्रेतपितरः ऋतुपितरः	ऋतुपितरः प्रेतपितरः
१४	१४	सयुक्तस्य	संयुक्तस्य
१४	१५	पुनस्त्र्याणां	पुनस्त्रयाणां
१४	२१	भृगुवंश	भृग्वंश
१४	२४	यमाग्निना	यमाग्नीनां
१४	२८	माध्यायनं	माध्यायनं
१४	२८	संतर्प्येत्	संतर्प्येत्
१४	२६	पितन्	पितॄन्
१५	२	ष्वात्ता	ष्वात्तान्
१५	४	शीतोष्णशीतरश्चेति	शीतः अनुष्णाशीतश्चेति
१५	६	प्रवर्तते	प्रवर्तते
१५	१०	सवत्सरो	संवत्सरो
१५	२०	यावाग्नि	यावानग्नि
१५	२८	वषिष्ठो	वषिष्ठो
१६	३	म्रीयते	म्रियते
१६	१०	पक्षीणां	पक्षिणां
१६	११	इत्याहः	इत्याह
१६	२०	सोमपदादये	सोमसदादय
१६	२४	योनिनाम्	योनीनाम्
१७	१	सोम्याः	सौम्या
१७	४	लोकः	लोकाः
१७	५	सामीप्यांदीना	सामीप्यादीनां

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१७	८	मारीचिर्गर्भा	मरीचिर्गर्भा
१७	२५	सांकर्य्ये	सांकर्य्ये
१७	२०	द्रंव्यद्रव्य	द्रवद्रव्य
१८	३	यो	ये
१८	८	संतर्य्ये	संतर्प्ये
१९	२	देवतास्त्र	देवतात्वं
१९	६	रुद्र	रुद्रा
१९	१४	पुत्रः	पुत्राः
१९	१५	वर्हिषदः	बर्हिषदः
१९	२६	आभास्वराः	अभास्वराः
२०	४	देवताः	देवताः
२०	१६	चाप्रसिद्धैः	चाप्रसिद्धेः
२०	२४	रश्मियाः	रश्मिपाः
२१	४	सोमपा	सोमपाः
२२	७	प्राण	प्राणा
२२	८	मृषि	मृषित्वं
२३	१२	मन्धात्रा	मन्यत्रा
२३	१०	अग्नेपत्न्य	अग्ने पत्न्य
२३	१८	रयिणां	रयीणां
२३	६	बथातथ्यं	याथातथ्यं
२३	१६	धर्म्माणा	धर्म्माणः
२३	१५	धर्मस्य	धर्मभ्य
२३	१८	चान्योन्ये	चान्योन्य
२३	१६	प्रदेशः	व्यपदेशः
२३	१७	विज्ञानं	विज्ञानं
२४	५	मासा	यासा
२४	५	ऽनुचानाः	ऽनूचानाः
२४	१८	श्रतिः	श्रुतिः
२५	३	महाव्रतं	महाव्रतं

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२५	६	वेद:	वेदा:
२५	७	न्तऽकरणा	न्त:करणा
२५	१६	प्रत्ययनाव	प्रत्यायनाय
२५	१७	यथा	तथा
२५	२०	गौत्तमीय	गौतमीय
२५	२२	उपदेष्टा	उपदेष्टा।
२५	२३	स द्विधो	स द्विविधो
२६	५	पार्ष्टिकं	पाष्ठिकं
२६	१२	वृष्ट	वृष्टि
२६	२२	प्रयो तैव	प्रयोतैव
२७	२	वर्गस्य	वर्गस्य
२७	२०	व्यापर्नों	व्यापिनों
२८	३	प्राणौति	प्राणिति
२९	१२	स्ते नेदं	स्तेनेदं
२९	१६	अन्य	अन्य
२९	२१	शरीरा:	शारीरा:
३०	१	वेन्द्रियकाणि	वैन्द्रियकाणि
३०	६	प्रविष्ठो	प्रविष्ठो
३०	७	देशैव	दर्शैव
३१	१	दुन्त्यर्ग्नीं	दुन्त्यग्निं
३१	८	महर्षींश्चा	महर्षींश्चा
३१	११	वितृभ्यो	पितृभ्यो
३३	४	व्रह्म	ब्रह्म
३३	११	सुविज्ञातां	सुविज्ञाता
३४	१०	मुर्वश्या	मुर्वश्यां
३४	१०	हुत्वा	हुत्या
३४	१९	अगास्त्य	अगस्त्य
३५	६	कतिपयोभि	कतिपयीभि
३५	६	सम्प्रहेनासा	संग्रहे तासा

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३५	१५	[illegible]	वै
३५	१६	निश्येति	विश्येति
३५	१७	मधिपत्यम्	माधिपत्यम्
३५	२०	तन्मां	तन्मा
३६	७	मित्बने	मित्यन्ये
३६	१०	शिरच्छेद	शिरश्छेद
३६	१५	निरूपे	नीरूपे
३६	२२	मृगी	भृगी
३७	११	प्रत्यदर्शी	प्रत्यद्दर्शि
३७	१३	समना	समनाः
३७	१४	प्रजनतीव	प्रजानतीव
३८	८	संपद्यत	संपद्यते
३९	१	च स्कन्द	चस्कन्द
३९	२३	संत्युक्तयो	संयुक्तयो
४०	१३	कश्यपः	काश्यप्य
४०	१६	ना भू	वामू
४१	१२	द्रष्ट	द्रष्टृ
४२	२	चान्त	चान्व
४३	१३	[illegible]ष	[illegible] ष
४२	१८	वा	वा
४३	१९	प्राणवनः	प्राणवनः
४४	१	र्वा	र्वा
४४	४	श्रुतावपि	श्रुतावपि
४४	११	ऐतरेयारण्वके	ऐतरेयारण्यके
४४	५	आह्निकाः	आह्निकाः
४६	५	तमेवा	तमेवा
४६	७	मपथा	मयथा

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
४८	१३	च्छोत्रं	च्छ्रोत्रं
४८	१५	भुख्या	मुख्या
४८	१६	द्रष्टषु	द्रष्टृषु
४८	२१	विशेय	विशेष
४९	११	दष्टुर्वशिष्ठ	द्रष्टुर्वशिष्ठ
५१	१८	प्यङ्गिरा	प्याङ्गिरा
५४	१२	स्मरणदस्य	स्मरणाद्स्य
५५	९	गोयवनः	पवनः
५६	२	शतर्वी	शतर्ची
५७	८	ऊर्ध्वनमा	ऊर्ध्वनामा
५७	१०	अग्न	अग्नि
५७	१०	अग्न	अग्निः
५७	१४	सर्व	सर्वं
५७	१७	कुमा ो	कुमारो
५८	६	मथर्षि	अथर्षि
५९	५	अरि	अरिष्ट
५९	७	नैऋत:	नैर्ऋत:
६०	१	राजषि	राजर्षि
६०	१६	वशोऽत्स्यः	वशोऽश्व्यः
६०	१८	सप्त	सप्ति
६१	१०	त्रयी	त्रयो
६१	२१	कवष	कवष
६२	२	निद्दिष्टा	निर्दिष्टा
६४	११	शत	शतं
७०	१९	भवति वाशिष्ठिश्च वाशिष्ठश्च ।	भवति वाशिष्ठश्च ।
७१	४	कुढ़िनो	कुण्डिनो
७३	१	तत् म्बन्धादेव	तत्सम्बन्धादेव
७४	१५	पूर्वाया: तिथयो	पूर्वातिथयो
७५	१३	कारणु	कारेणु

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
७६	६	गोत्रा	गोत्र
७६	१९	भजेदत्त्रिमः	भजेदत्त्रिमः
७७	१६	प्रदीये	प्रदीपे
७७	२१	तवदुभयथा	तावदुभयथा
७९	२	मृग :	मृगयः
७९	६	भतन्ति	भवन्ति

॥ इति ॥





दी प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स लिमिटेड,

किशनपोल बाजार, जयपुर।

